

वीर निर्वाण सम्बत् २५०१

सन् १९७५ ई०

महासचिव, वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली द्वारा भारत
मे प्रकाशित तथा एमसॅन प्रिंटर्स, दरीवा कला, दिल्ली द्वारा मुद्रित ।

प्रकाशकीय

भगवान तीर्थंकर महावीर के शब्दों में वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। और आत्मा का स्वभाव ज्ञान-चैतन्य है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी उसमें मिला हुआ है वह सब विकारी अवस्था है। यह अन्य के साथ सहयोगी अवस्था अथवा विकारी अवस्था ही समस्त दुखों—आकुलताओं और ससार भ्रमण की जननी है।

जिस मार्ग पर चलकर आत्मा के समस्त विकारों को अथवा सभी परसंयोगों को दूर कर अपनी शुद्ध-चिरतन-चैतन्य अवस्था को प्राप्त कर अनन्त सुख का अधिकारी बना जा सके उसी मार्ग का प्रतिपादन भगवान तीर्थंकर केवली ने किया और वही जैन धर्म है। न वस्तु कभी नष्ट होगी न कभी उसके स्वभाव का अभाव होगा और न जैन धर्म कभी नष्ट होगा। या यों कहिए कि जो त्रिकाल सत्य है, अनादि है, अविनश्वर है, उसी का प्रतिपादन जैन धर्म है। आत्मद्रव्य त्रिकाल सत्य है, उसका ज्ञान स्वभाव त्रिकाल सत्य है और उसका धर्म भी त्रिकाल सत्य है। प्रतिपादन चाहे जिस ढंग से किया जाए, सिद्धान्तरूप से यह धर्म कभी न कुछ और था, न कुछ और होगा, और न कुछ और हो ही सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि जब यह इतनी सीधी-सी बात है तो इस अपार धर्म साहित्य में और क्या भरा पड़ा है और उसका क्या प्रयोजन है? 'पर' में अपनापन इस जीव में अनादिकाल से जुड़ा हुआ है। इस जन्म जन्मान्तर के, अनन्तकाल से पड़े हुए सत्कारों की शृङ्खला को तोड़ना क्या आमान काम है? इसको तोड़ने के लिए अर्थात् भेद-विज्ञान की प्राप्ति के लिए अपार पुरुषार्थ करना पड़ेगा और वह तब तक सम्भव नहीं जब तक समस्त ससार के तत्व को भली-भाँति न समझ लिया जाए। इसी तत्व को पूर्णरूपेण समझाने के लिए भगवान तीर्थंकर को द्वादशींग की रचना करनी पड़ी।

स्वर्गीय दरयावसिंह सोधिया की यह पुस्तक एक बहुत उत्तम सहिता है जो जैन धर्म के मूल लक्षणों की ओर सुगम निर्देश करती है। पुस्तक की उपयोगिता इसी प्रमाण से सुस्पष्ट है कि इसके कई संस्करण आवश्यक धर्म संग्रह शीर्षक से कई भिन्न संस्थाओं से प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमें से अब कोई भी उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर जब धर्म की ओर रुचि चतुर्दिक जागृत हुई है, तो ऐसा उत्तम ग्रन्थ जिज्ञासुओं के लिए मुलभ होना ही चाहिए, इस आवश्यकता को दृष्टि में रखकर, यह नवीन संस्करण, नई सजघज में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है।

ग्रन्थ को और भी सुगम बनाने के लिए उसको तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है.—(१) धर्म का स्वरूप और आवश्यकता (२) अणुव्रतरूप गृहस्थ अथवा आवश्यक धर्म और (३) मुनिधर्म। सम्बन्धित विषयों को भी अल्प हेरफेर करके एक साथ कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक में 'अनेकान्त व स्याद्वाद' के प्रकरण का अभाव खटकता था। अतः संक्षिप्त रूप में इस अद्वितीय सिद्धान्त व शैली का विवरण श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य की पुस्तक 'जैन-दर्शन' से उद्धृत करके इस कमी को भी पूरा कर दिया गया है।

कुछ विषय जो यहाँ वहाँ दोहराये गए थे, उनको एक ही स्थान पर रहने दिया गया है। विषय सूची का विस्तार बढ़ा दिया गया है कि जिससे यह एक प्रकार से सकेतिका का भी कार्य कर सके और पाठकों को विभिन्न विषयों के प्रकरण खोजने में सुविधा हो।

वीर निर्वाण सम्वत् २५००
(सन् १९७४ ई०)

महेन्द्रसेन
महासचिव, वीर सेवा मन्दिर।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१
प्रथम भाग	
धर्म का स्वरूप और आवश्यकता	
सम्यग्दर्शन	२
लोक स्वरूप	५
सृष्टि का अनादिनिघनत्व	७
षट्द्रव्य	६
जीव द्रव्य—जीवत्व, उपयोगत्व, अमूर्तत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, ससारत्व, सिद्धत्व, उर्ध्वगतित्व	६
पुद्गलद्रव्य	१२
धर्मद्रव्य	१२
अधर्मद्रव्य	१३
कालद्रव्य	१३
आकाशद्रव्य	१३
सुख-दुःख के कारण	१४
जीवों के भेद—भव्य, अभव्य	१५
सप्त तत्त्व	१६
आस्रव तत्त्व—मित्थ्यात्व, अविरति, कपाय, योग	१७
बन्ध तत्त्व—प्रदेश बन्ध, प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध	२०
सवर तत्त्व	२३
निर्जरा तत्त्व	२३
मोक्ष तत्त्व	२४
सम्यक्त्व का स्वरूप	२५
सम्यक्त्व के चिन्ह—प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य	२८
सम्यक्त्व के अष्ट अंग—नि शक्ति, नि काक्षित, निर्वि- चिकित्सा, अमूढ़ दृष्टि (देव, गुरु, शास्त्र का स्वरूप), उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना	३१

२५ मल दोष—अष्ट दोष, तीन मूढता, पट् अनायतन, पच लब्धिया (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, काल, प्रायोग्य, करण)	३५
सम्यक्ज्ञान प्रकरण	३८
मतिज्ञान	३९
श्रुतज्ञान	४०
अवधिज्ञान—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि	४०
मन पर्ययज्ञान—ऋजुमति, विपुलमति	४१
केवलज्ञान	४२
चार अनुयोग	४२
सम्यक्ज्ञान प्राप्ति के आठ अंग	४३
अनेकान्त व स्याद्वाद	४५
सम्यक्चारित्र	४७

द्वितीय भाग

अणुव्रतरूप गृहस्थ अथवा श्रावक धर्म

श्रावक की ५३ क्रियाये	५०
पाक्षिक श्रावक	५०
अष्टमूलगुण	५१
मूर्तिपूजन	५६
सप्तव्यसन दोष	६१
विशेष कर्त्तव्य	६४
गृहस्थ की नित्य चर्या	६५
गृहस्थ के सत्रह यम	६५
नैष्ठिक श्रावक	६६
प्रथम दर्शन प्रतिमा	६७
सप्तव्यसन के अतीचार	६९
२२ अभक्ष्य	७२
खान-पान के पदार्थों की मर्यादा	७३
द्वितीय व्रत प्रतिमा	७४
तीन शल्य—मिथ्या, माया, निदान	७६
दशलक्षण धर्म	७७
द्वादश अनुप्रेक्षा	७८
चारह व्रत—	
पचाणुव्रत	८०

तीन गुणव्रत	१००
चार शिक्षाव्रत	१०६
व्रती श्रावक के टालने योग्य अन्तराय	१२४
व्रती श्रावक के करने योग्य विशेष क्रियाएँ	१२५
तृतीय सामायिक प्रतिमा	१२८
चतुर्थ प्रोषघ प्रतिमा	१२९
पाँचवी सचित्र-त्याग प्रतिमा	१३०
प्राशुक करने की विधि	१३१
छठी रात्रि-भुक्तित्याग प्रतिमा	१३२
सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा	१३३
अष्टम आरम्भ त्याग प्रतिमा	१३६
नवम परिग्रह-त्याग प्रतिमा	१३९
दशवी अनुमति-त्याग प्रतिमा	१४२
ग्यारहवी उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा	१४३
क्षुल्लक	१४५
ऐलक	१४७
साधक श्रावक (समाधि मरण)	१४९
सविचार समाधिमरण	१५०
अविचार समाधिमरण	१५१
द्वादश अनुप्रेक्षा (सविस्तार)	१५३
अभिवंदन प्रकरण	१६१
सूतक प्रकरण	१६२
स्त्री चारित्र	१६४

तृतीय भाग

मुनि धर्म

वाईस परीषह जय	१६७
मुनिधर्म धारने योग्य पुरुष	१६९
मुनियों के भेद	१७०
आचार्य	१७०
उपाध्याय	१७०
साधु—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक	१७०

साधु के २८ मूल गुण

पंचमहाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग	१७३
पाँच समिति	१७४
पंचेन्द्रिय-निरोध	१७५
षट् आवश्यक	१७६
केशलीच	१७८
आचेलक्य	१७८
अस्नान	१७९
क्षितिशयन	१७९
अदन्त धावन	१७९
स्थित भोजन	१७९
एक भुक्ति	१८०
मुनि के आहार-विहार का विशेष	१८०
आहार सम्बन्धी दोष	१८२
१६ उद्गम दोष	१८२
१६ उत्पादन दोष	१८२
१४ आहार-सम्बन्धी दोष	१८३
१४ मल दोष	१८४
३२ अन्तराय	१८४
निवास और चर्या	१८५
मुनि के घर्मोपकरण	१८७
तीन गुप्ति	१८८
पंचाचार	१८९
द्वादश तप	१८९
बाह्य तप	१८९
आभ्यन्तर तप	१९०
ध्यान	१९१
८४ लाख उत्तरगुणों के भंग	१९६
अठारह हजार शील के भेद	१९६
मुनिव्रत का सारांश—मोक्ष	१९६
सदुपदेश	१९८
सदभिका	१९९

भूल सुधार

पृष्ठ १६ पर प्रथम लाइन में सववा के वजाए प्रूफशोधन की गलती से विषवा छप गया है। कृपया ठीक करलें।

श्रावक-धर्म संहिता

मंगलाचरण

शिवसुखदा शिवमुखमई, मंगल परम प्रधान ।
वीतराग-विज्ञानता, नमों ताहि हित मान ॥ १ ॥

वृषकर्त्ता युग आदि मे, ऋषिपति श्री ऋषभेश ।
वृषभचिह्न चरणन लसै, वट्ट आदि जिनेश ॥ २ ॥

सन्मतिपद सन्मति करन, सन्मति-सुख-दातार ।
सुखवाञ्छक सब जगत जन, ताते सन्मति धार ॥ ३ ॥

मुक्ति-मार्ग साधक द्विपद, विकल सकल हितकार ।
नामे श्रावक पद प्रथम, वरणो प्रतिमासार ॥ ४ ॥

प्रतिमा चढि यति पद धरै, साधै आत्मस्वरूप ।
सिद्ध स्वात्मरसरसिक ह्वै, सद्गुणनिधि सुखभूप ॥ ५ ॥

मैं ग्रन्थ के आदि मे मंगल निमित्त वीतरागता-विज्ञानतारूप परम शक्ति को हृदय मे धारण करने की इच्छा करके इसे नमस्कार करता हूँ, तथा इस शक्ति के धारक अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुसमूह को नमस्कार करता हूँ, जिनके चरणप्रसाद से गृहस्थधर्म को दर्पणवत् स्पष्ट दर्शाने वाला यह ग्रन्थ निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो ।

प्रथम भाग

धर्म का स्वरूप और आवश्यकता

इस अनतानत आकाश के बीचोबीच अनादि-निधन ३४३ राजू प्रमाण घनाकार लोक स्थित है। उसमें भरे हुए अक्षयानन्त जीव अनादि-काल से ही देखने-जानने मात्र अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन गुणको भूलकर, गरीर सम्बन्ध के कारण केवल इन्द्रिय-जनित सुखों को प्राप्त करने के लिये आकुल-व्याकुल होते हुए नाना प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं जिससे वे उनके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुखों को प्राप्त होते हैं। इनको अपने आत्मीक-पारमार्थिक गान्ति-सुख की खबर भी नहीं है। अज्ञानतावग, दुखों की मन्दता अथवा किसी एक दुख की किञ्चित्काल उपशान्ति को ही ये भोले जीव सुख माना करते हैं और इसी निमित्त इन्द्रियजनित विषयों के जुटाने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। इन दुखों के मूल कारण जो उनके पूर्वकृत दुष्कर्म हैं उनको तो पहिचानते नहीं, केवल बाह्यनिमित्त कारणों को दुख-दायक जान, सकल्प विकल्प करते हुए उनके दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार झूठे उपायों से जब दुख दूर न होकर उल्टा बढ़ता है तब निरुपाय होकर कहने लगते हैं—हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था भगवान को ऐसा ही करना था अथवा अमुक देवी देवता का हम पर कोप है, इत्यादि। इस तरह और भी अनेक विना सिर पैर की कल्पनाये करते हैं और लाचार होकर सहायता की इच्छा से लोकरुद्धि के अनुसार अनेक विषयी-कपायी देवों की पूजा मानता करते, भेषी ससारासक्त कुगुरुओं की सेवा करते और ससारवर्द्धक (जन्ममरण की पद्धति बढ़ाने वाले) उपदेश युक्त शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन कर हिसादि पाप करने में जरा भी नहीं डरते हैं। तिस पर भी चाहते क्या है? यह कि तृष्णा रूपी दाहज्वर को बढ़ाने वाली और आकुल-व्याकुल करने वाली इन्द्रियजनित सासारिक सुखसम्पदा प्राप्त हो। इस प्रकार उपर्युक्त विपरीत कर्तव्यों का परिणाम यह होता है कि ये जीव उल्टे सासारिक चौरासी लक्ष योनियों में जन्म-मरण करने के चक्कर में पड़कर सदा दुखी रहते हैं।

इन्द्रिय-जनित विषय-सुख, सच्चे सुख नहीं किन्तु सुखाभास है। क्योंकि वे अस्थिर, अन्त में विरस, पराधीन, वर्तमान में दुःखमय और भविष्यत् में दुःखों के उत्पादक हैं। अतएव सच्चे सुख के वाछक पुरुषों को चिरस्थायी आत्मीक स्वाधीन सुख की खोज करना चाहिये और उसके स्वरूप को समझकर उसी की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

आकुलता-व्याकुलता रहित आत्मा का गान्तिभाव ही सच्चा सुख है, जिस गान्तिभाव की प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े योगी-यति ससार के भगडों से जुदा होकर और कामिनी-कचन को छोड़कर वनवास करते हैं। वही शांति भाव आत्मा का स्वाधीन सुख है, जिसे आत्मा का धर्म कहते हैं। उस आत्मधर्म के मर्म को जाने बिना “काख में लडका गाव में टेर” की कहावत के अनुसार यहाँ-वहाँ धर्म की ढूँढ़-खोज करना अथवा आत्म-धर्म के साधक निमित्तमात्र कारणों को ही धर्म मान बैठना और उसके लिये कपोल-कल्पित नाना-प्रकार की असत् क्रियाएँ करना व्यर्थ है। आत्मा का स्वभाव (धर्म) रागद्वेष रहित चेतना मात्र है जिसको देखना-जानना भी कहते हैं। इसके विरोध भेद उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य (रत्नत्रय धर्म) या जीवदया (अहिंसाधर्म) हैं। यह आत्मधर्म अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण विपरीत हो रहा है, इसलिये कर्म-जनित विभावों और आत्मीक स्वभावों के यथार्थ स्वरूप जाने बिना ये जीव ससाररोग की उल्टी औपधि करते और सुख के बदले दुःख पाते हैं।

यदि एक बार भी जीव को अपने स्वाभाविक स्वरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शन की तथा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मजनित इन नाना-प्रकार के स्वांगों की परख हो जाती, तो जन्ममरण के दारुण दुःख उसे कदापि न भोगने पड़ते और यह सदा के लिए इनसे छुटकारा पा जाता। परन्तु करे क्या? ससार में अनेक मार्ग ऐसे बन रहे हैं जो धर्म के नाम से जीवों की आँखों में धूल डाल उल्टे विषय कषायों के गढ़ों में पटक उन्हें अन्धे और अपाहिज (पुरुषार्थ हीन) कर देते हैं जिससे उनका फिर सुमार्ग के निकट आना कठिन हो जाता है। भावार्थ—जिन पचेन्द्रिय जनित विषय-सुखों में जीव अज्ञानता वश भूल रहे हैं उन्हीं को वे बार-बार उपदेश देकर मोह निद्रा में अचेत कर देते हैं जिससे उनको यह बोध नहीं होने पाता कि हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना पड़ेगा? वर्तमान में जो यह सुख-दुःख की सामग्री हमें प्राप्त हो रही है इसका कारण क्या है? आत्मा

तथा गरीर अलग-अलग पदार्थ हैं या एक ही हैं ? आत्मा का स्वभाव क्या है ? और कर्मजनित रागद्वेष रूप विकार भाव क्या है ? तथा हमारा सच्चा सुख क्या और कैसे प्राप्त हो सकता है ? इत्यादि इत्यादि ।

इस प्रकार ससारी जीवों की अचेत एव दुःखमय दशा देखकर परमोपकारी परमपूज्य तीर्थंकर भगवान् ने असार संसार से विरक्त हो शुभा-शुभ कर्मों को जीत ('कर्मारतीन् जयजीति जिन' अर्थात् जो कर्मशत्रुओं को जीत शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त हो सो जिन हैं) अपनी पूर्वकृत दर्शन-विगुह्ति (सम्यग्दृष्टि की मय जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने की उत्कट वांछा) भावना के द्वारा बाधे हुए तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म के उदयवश श्री अर्हत्स्वरूप को प्राप्त होकर ससारी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया जिसमें मोक्ष और मोक्ष के कारणों तथा असार और संसार के कारणों का स्वरूप भलीभाँति दर्शाया । मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्मा के स्वभाव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को भलीभाँति सिद्ध करने के पीछे कर्म-जनित विभावों को छोड़ स्वभाव में प्राप्त होने के लिये सम्यक्चारित्र्य धारण करने का उपाय बताया तथा इस अनादि रोग को एकदम दूर करने की शक्ति सर्वसाधारण जीवों में नहीं है, इसलिये जैसे बड़े भारी व्यसनीका एकदम व्यसन छूटना अगव्य जान क्रम-क्रम से छोड़ने की परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार उन जिनेश्वरदेव ने निज दिव्यध्वनि द्वारा विषय-कपायश्रित (दुर्व्यसनी) ससारी जीवों को इस संसार रोग से छूटने के लिये श्रावक और मुनि-धर्म रूप दो श्रेणियों का उपदेश दिया ।

१ श्रावक धर्म—जिसमें गृहस्थ अवस्था में रहकर कपायों के मन्द करने और इन्द्रियों के विषय जीतने को अणुव्रतादि साधन बताये गये हैं ।

२ मुनि धर्म—जिसमें गृहस्थापना त्याग, सर्वथा आरम्भपरिग्रह तथा विषय-कपाय रहित हो, निज शुद्धात्मस्वरूप की सिद्धि के अर्थ महाव्रत, तप, ध्यानादि साधन बताये गये हैं, जिससे आत्मा अपने स्वाभाविक वीतराग-विज्ञानभाव (शुद्ध चैतन्यभाव) को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाय ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म हैं । यह कर्मजनित उपाधि के कारण मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-चारित्र्य रूप विपरीत या उल्टा हो रहा है । इसलिये आगे इस ग्रन्थ में क्रमशः इन तीनों का स्वरूप वर्णन किया जायगा ।

सम्यग्दर्शन

आतम अनुभव नियत^१ नय, व्यवहारे तत्त्वार्थ ।

देव-धर्म-गुरु-मान्यता, सम्यग्दर्शन सार्थ ॥ १ ॥

सबसे प्रथम आत्मा के स्वभाव (धर्म) का सम्यक्श्रद्धान होना आवश्यक है । क्योंकि इस सम्यग्दर्शन को सत्पुरुषों ने ज्ञान तथा चारित्र्यका मूल माना है । सम्यक्त्व यम (महाव्रत) प्रशम (विगुद्ध भाव) का जीवन है और तप, स्वाध्यायका आश्रय है । इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र्य मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित रहते हैं । इसी कारण प्रथम ही सम्यक्त्व होने के उपाय का सक्षिप्त रूप से वर्णन किया जाता है ।

लोकस्वरूप

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहो द्रव्यों का समूह लोक कहलाता है । यह लोक (सृष्टि) अनादि काल (सदा) से है और अनन्तकाल तक बना रहेगा अर्थात् इन द्रव्यों को किसी ने बनाया नहीं और न कभी ये नाश होंगे । क्योंकि द्रव्य उसे कहते हैं जो अपने गुणों कर सदा ध्रौव्य और पर्यायी करके उत्पाद-व्यय रूप रहती है । इसी कारण इन द्रव्यों का समूहरूप लोक अनादि-निधन है ।

ये छहो द्रव्य यद्यपि अपने-अपने गुणों से युक्त सदा सत् रूप (मौजूद) रहते हैं । तथापि पर्याय परिणमाने की शक्ति रूप उपादान कारण तथा पर्याय परिणमनेरूप निमित्त कारण होने से इनकी पर्याय पलटती रहती है । इनमें से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में सूक्ष्म और स्थूल^२

१ निश्चय सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व या श्रद्धान भी कहते हैं ।

२ स्थूल पर्याय— जैसे जीव का मनुष्य से पशुपर्याय रूप आकार हो जाना, पुद्गल का घट से कपालपर्याय रूप आकार हो जाना । सूक्ष्म-पर्याय-जीव में ज्ञानादि गुणों के, पुद्गल में स्पर्शादि गुणों के, धर्म द्रव्य में गतिसहकारित्व गुण के, अधर्म द्रव्य में-स्थिति सहकारित्व गुण के, काल द्रव्य में वर्तना-गुण के और आकाश में अवकाशदान गुण के अविभागप्रतिच्छेदो में अनन्त भाग वृद्धि, असख्यातभाग-वृद्धि सख्यातभागवृद्धि सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि रूप पटस्थान, पतित वृद्धि वा हानिरूप परिणमन होना । इसका विशेष खुलासा श्रीगोम्मटसारजी से जानना ।

दोनों प्रकार की पर्याये होती हैं और शेष धर्म, अघर्म, आकाश^१, काल इन चार द्रव्यों में केवल सूक्ष्म पर्याय ही होती है।

जीवों की तो अनादि सम्बन्ध रूप पौद्गलिक कर्मसतति संयोग के निमित्त में और पुद्गल की जीव अथवा पुद्गल के निमित्त से पर्याये पलटती है। इस प्रकार जीव के परसंयोगजनित और पुद्गल के स्वपरजनित स्थूलविकार (परिणमन) स्थूलबुद्धि जीवों को रातदिन दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इन पलटनों के कारण सूक्ष्म अर्थात् विज्ञेयज्ञान के विषय होने से अल्पज्ञों को ज्ञात नहीं होते और चमत्कार-सा भासता है।

पुद्गलों में स्वाभाविक रीति से और जीवों में उनके शुभाशुभ परिणाम द्वारा बन्ध किये हुए सूक्ष्म कर्मपरमाणुओं के उदयवश जो परिणमन होते हैं उन सबके कारण सूक्ष्म और अदृष्ट होने से लोक-रुद्धि के अनुसार ईश्वर को ही हर कोई इनका कर्त्ता ठहराता है। यहाँ तक कि लोग जीवों के सुख-दुःख का कर्त्ता भी ईश्वर ही को मानते हैं। यही कारण है कि जीव आप तो अनेक प्रकार के पाप करते हैं और उनके फलस्वरूप दुःखों से बचने के लिए उन दुष्कर्मों को न छोड़कर अज्ञानतावश देव-देवियों या ईश्वर को कर्त्ता समझ उनकी नाना-प्रकार से पूजा-मानता करते हैं जिससे और भी अधिक पाप कर्मों से लिप्त होकर दुःखों के स्थान बनते हैं।

ससारी जीव यद्यपि लोकरुद्धि के अनुसार सद्गुरु के उपदेश के अभाव से ईश्वर को सृष्टि का या सुख-दुःख का कर्त्ता तो मानलेते हैं, परन्तु यह नहीं विचारते कि ईश्वर का कर्त्ता-पना सम्भव है या असम्भव? सदोष है या निर्दोष?

यदि इस विषय में सद्गुरु के उपदेशपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि सृष्टि का तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वर को मानना भ्रमपूर्ण है। हाँ, इतना अवश्य है कि ईश्वर ने मोक्ष होने के पहले जीवन्मुक्त (संशरीर परमात्म) अवस्था में करुणाबुद्धि के उदयवश जीवों के उद्धारार्थं सुख-दुःख, मसार-मोक्ष का स्वरूप तथा मोक्ष का मार्ग निरूपण कर दिया है और उपदेश दिया है कि जीव ही ससार का कर्त्ता और जीव ही मुक्ति का कर्त्ता है, विष-अमृत दोनों के लड्डू इसके हाथ में हैं चाहे जिसको ग्रहण करे। जीव को सुख-दुःख की प्राप्ति होना उसी के किये

हुये सत्कर्म एव कुकर्म के आधीन है। जीव ही ससार (अपने जन्म-मरण) का कर्त्ता ब्रह्मा, पोषक विष्णु और नाशक महेश है। खुदा या ईश्वर आदि किसी को ससार का उत्पादक, पोषक और नाशक मानना युक्ति-विरुद्ध है, तथा ऐसा मानने से कई दोष भी उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि का अनादिनिधनत्व

यदि ऐसा माना जाय कि बिना कर्त्ता के कोई कार्य होता नहीं दिखता, इसी हेतु से सृष्टि को ईश्वर या खुदा आदि किसी ने बनाया है। तो यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सृष्टि बनने के पूर्व कुछ था या नहीं ? इसका उत्तर यही होगा कि ईश्वर के सिवाय और कुछ भी नहीं था, क्योंकि जो ईश्वर के सिवाय पृथ्वी जल आदि होना माना जाय तो फिर ईश्वर ने बनाया ही क्या ? अतएव अकेला ईश्वर ही था। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब बिना कर्त्ता के कोई भी कार्य न होने का नियम है तो ईश्वर भी तो एक कार्य (वस्तु) है, इसका कर्त्ता होना भी जरूरी है। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर अनादि है इसलिए उसका कर्त्ता कोई नहीं। भला जब अनादि ईश्वर के लिए कर्त्ता की आवश्यकता नहीं तो उपर्युक्त पटद्रव्य युक्त अनादि सृष्टि का कर्त्ता मानने की भी क्या जरूरत है ? और यदि ऐसा माना भी जावे कि पहले ईश्वर अकेला था और पीछे उसने सृष्टि रची तो सृष्टि रचने के लिए उपादान सामग्री क्या थी और वह कहाँ से आई ? अथवा जो ऐसा ही मान लिया जाय कि ईश्वर तथा सृष्टि बनने की उपादान सामग्री दोनों अनादि से थी, तो प्रश्न होता है कि निरीह (इच्छारहित, कृतकृत्य) ईश्वर को सृष्टि रचने की आवश्यकता क्यों हुई ? क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के कोई भी जीव कोई भी कार्य नहीं करता। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर ने अपनी प्रसन्नता के लिए सृष्टि रचने का कौतूहल किया, तो ज्ञात होता है कि सृष्टि के बिना अकेले ईश्वर को बुरा (दुख) लगता होगा ? इसीलिए जब तक उस ने सृष्टि की रचना नहीं कर पाई तब तक वह दुखी रहा होगा सो ईश्वर को दुखी और अकृतकृत्य मानना सर्वथा ईश्वर की निन्दा करना है। फिर भी जो कोई कुछ भी कार्य करता है वह इष्ट-रूप सुहावना ही करता है, सो सृष्टि में सुखी तो बहुत थोड़े और दुखी बहुत जीव दिखाई देते हैं, इसी प्रकार सुहावनी वस्तुएँ तो थोड़ी और कुरूप, भयावनी, घिनावनी-बहुत देखने में आती हैं जो कर्त्ता की अज्ञानता की सूचक हैं। इस प्रकार ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता मानने में और भी अनेक दोष आते हैं। फिर सभी कर्त्तावादी बहुधा ईश्वर को

न्यायी और दयालु कहते हैं। सो जब ईश्वर ऐसा है तो क्या कारण है कि उस ने सब जीवों को एक सा रूप, सुख, दुखादि न दिया, किसी को मनुष्य, किसी को कीड़ा, किसी को कुरूप, किसी को मुरूप, किसी को धनवान्, किसी को निर्धन आदि अलग अलग प्रकार का बनाया ? उसको किसी से राग द्वेष तो था ही नहीं। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर सब जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है। भला जब ऐसा है कि फल की प्राप्ति के कर्त्ता जीव ही है तो ईश्वर को सृष्टि का या जीवों के सुख-दुख का कर्त्ता मानना निर्मूल ठहरा। अथवा यदि यह कहे कि जैसे जज न्याय करके जीवों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवों के पूर्व शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुख देता है, बिना दिये सुख-दुख कैसे मिल सकता है ? इसका समाधान यह है कि यदि ईश्वर अल्पज्ञ और निर्बल होता तो उसे दण्ड देकर दूसरों को यह वान दिखलाने की आवश्यकता पड़ती कि जो अमुक अपराध करेगा उसको अमुक दण्ड दिया जायगा। परन्तु उसे तो बहुधा सभी मतावलम्बी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और परमदयालु मानते हैं। यदि ऐसे ईश्वर को सुख-दुख देने के भगडे में पड़ना पड़ता या पाप भेटने और पुण्य प्रचार करने का विकल्प करना पड़ता, तो वह सर्वज्ञ और शक्तिमान ईश्वर अपनी इच्छा मात्र में ही सब जीवों को अपराध करने से रोक सकता था। परन्तु ऐसा न करके वह सासारिक न्यायाधीशों की पदवी को धारण करना चाहता है और वह जानते हुए दयालु होते हुए शक्ति रखते हुए भी जीवों से अपराध कराता और फिर उन्हें दण्ड देता है सो इससे तो उसके उत्तम गुणों में दोष लगता है, अतएव ईश्वर को फलदाता कहना व्यर्थ है। सब जीव जैसे परिणाम करते हैं वैसे ही सूक्ष्म कार्माण वर्गणा उनकी आत्मा से एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध को प्राप्त होकर उदय अवस्था में जीवों को सुख-दुख का कारण होती है यथा—

“कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।

जो जस करै सो तस फल चाखा ॥”

यहाँ कोई सदेह करे कि जैनमत ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता न मानने से नास्तिक ठहरता है, तो इसका समाधान इतना ही होगा कि ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने से आस्तिक और न मानने से नास्तिक की मिद्धि नहीं है। किन्तु आत्मा परमात्मा का अस्तित्व मानने वाले आस्तिक और अस्तित्व न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं, सो जैन मत आत्मा को अनादि,

स्वयं सिद्ध तथा परमात्मा को सर्वज्ञ, वीतराग, परमशांतरूप पूर्ण सुखी मानता है, इसलिए जैन मत का नास्तिक कहना अतिभ्रमयुक्त है।

इन बातों पर जब प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो यही सिद्ध होता है कि ईश्वर (परमात्मा, खुदा या गॉड) तो कृत-कृत्य और निष्कर्म अवस्था को प्राप्त होकर आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। उनको सृष्टि के करने, धरने, बिगाड़ने में क्या प्रयोजन ? लोक में जो जीव-पुद्गलका परिणमन हो रहा है वह उन द्रव्यों के शक्तिरूप उपादान तथा अन्य बाह्य निमित्त कारणों से ही होता है।

षट्द्रव्य

इस लोक में चैतन्य और जड़ दो प्रकार के पदार्थ हैं। इनमें चैतन्य एक जीव-द्रव्य ही है, शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये पाचो द्रव्य जड़ हैं इनमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये ५ द्रव्य अनन्त-आकाश के मध्य भरे हुए हैं। यह लोक आकाश सहित षट् द्रव्यमय है अर्थात् जितने आकाश में जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य (और छटा आकाश द्रव्य आघार रूप है ही) हैं वह लोकाकाश कहलाता है, शेष लोक से परे अनन्त अलोकाकाश है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि आकाश के ठीक बीचो-बीच लोक है यह कैसे निश्चय हो ? इसका समाधान यह है कि जब लोक से परे सब तरफ अनन्त आकाश है अर्थात् सब तरफ अनन्त की गणना लिये एक बराबर आकाश है तो सिद्ध हुआ कि आकाश के अति मध्य भाग में ही लोक है।

इन छहो द्रव्यों में जीव द्रव्य की संख्या (गणना) अक्षयानन्त है। पुद्गलद्रव्य की परमाणु संख्या जीवों से अनतानन्तगुणी है। धर्म-द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य एक-एक ही हैं। काल के कालाणु असंख्यात हैं।

जीव द्रव्य

प्रत्येक जीव चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शन लक्षणयुक्त असंख्यात प्रदेशी है। यद्यपि इसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य (देखने जानने) मात्र है, तथापि अनादि पुद्गल (द्रव्यकर्म) संयोग से रागद्वेषरूप परिणमन करता हुआ विभावरूप हो रहा है। जिससे इसमें स्वभाव विभावरूप ६ प्रकार की परिणतियाँ पाई जाती हैं—

१. जीवत्व—जीव मे अपने तथा परपदार्थों के जानने की शक्ति है। इसलिए यथार्थ मे (निश्चयनयसे) इसके एक "चेतना" प्राण है। परन्तु व्यवहार नयसे (सांसारिक अशुद्ध अवस्था मे) इन्द्रिय, वल, आयु, स्वासोच्छ्वास ४ प्राण हैं। इन चार प्राणों के विशेष भेद १० होते हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये ५ इन्द्रिय प्राण मनवल, वचनवल, कार्यवल ये तीन वल प्राण, १ आयु और १ स्वासोच्छ्वास। इन प्राणों से यह जीव अनादि काल से जीता है।

२. उपयोगत्व—निश्चयनयसे जीव चैतन्य मात्र है जिसके व्यवहार नयसे ज्ञान-दर्शन दो भेद हैं। तथा विशेष भेद १२ (८ प्रकार ज्ञान और ४ प्रकार दर्शन) हैं। यथा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, सुमति, सुश्रुत, सुअवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, और केवल दर्शन।

३. अमूर्तत्व—निश्चयनयसे जीव अमूर्तीक अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। परन्तु ससार अवस्था मे कर्मनोकर्म अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर सहित होने से मूर्तीक है।

४. कर्तृत्व—शुद्धनिश्चयनयसे अपने शुद्ध चैतन्य परिणामका, अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्ध चेतन परिणामका अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चार घाति कर्मोंका तथा आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघाति कर्मों अर्थात् अष्ट कर्मोंका कर्ता है।

५. भोक्तृत्व—शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध चैतन्य परिणामका, अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध चैतन्य परिणाम अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा बाँधे हुए अष्टप्रकार ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंके फलका तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण-शब्द रूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उनका और धन, स्त्री आदिका भोक्ता है।

६. स्वदेहपरिमाणत्व—प्रत्येक जीव शुद्ध निश्चयनयसे लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाशके प्रदेश गणना मे जितने हैं, ठीक उतने-उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीव के हैं। परन्तु व्यवहारनयसे जैसा छोटा, बड़ा शरीर धारण करता है, उसी के आकार उसके आत्मप्रदेश सकोच विस्तार रूप हो जाते हैं। सिर्फ समुद्घात^१ अवस्थामे आत्मप्रदेश शरीर

१ समुद्घात—जिन कारणों ने आत्म प्रदेश शरीर से बाहर भी निकले, वे ७ हैं —कषाय, वेदना, मारणान्तिक, आहारक, वैक्रियिक तैजस और केवल।

के बाहर भी निकलते हैं और सिद्ध अवस्थामे चरम अर्थात् अंतिम शरीर से किंचित् न्यून आकार प्रमाण आत्म-प्रदेश रह जाते हैं ।

७. संसारत्व—जब तक जीव कर्ममल युक्त रहता है, तब तक ससारी है । ससारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं—स्थायर और त्रस । स्थावर ५ प्रकार के हैं । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक । त्रस चार प्रकार के हैं दोइन्द्री—लट, गख आदि । तेइन्द्री—चिउटी, खटमल, विच्छू आदि । चौइन्द्री—मक्खी, भौरा, मच्छर आदि । पञ्चेन्द्री—पक्षी, पशु, मनुष्य, नारकी, देव आदि । इनके विशेष भेद ८४ लाख योनि तथा एक सौ साठे निन्यानवे लाख कोडि कुल है ।

८. सिद्धत्व—यदि सामान्य रीति से देखा जाय तो अष्ट कर्मों के नाश होने से जीव के एक आत्मीक, निराकुल, स्वाधीन सुख की प्राप्ति होती है उस समय शुद्ध चैतन्य गुणयुक्त आत्मा अंतिम शरीर से किंचित् न्यून आकार से लोक गिखर के अन्त (लोकाग्र) में जा तिष्ठता है और अनन्त काल तक इसी मुखी अवस्था में रहता है । ऐसी सिद्धि हो जाने पर जीव सिद्ध कहाता है । यदि विशेषरूप से कहा जाय तो अष्ट कर्मों के अभाव से उन अष्ट गुणों की प्राप्ति होती है जो अनादि काल से कर्मों से आच्छादित हो रहे थे । यथा-ज्ञानावरण के अभाव से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के अभाव से अनन्त दर्शन, मोहनीय के अभाव से क्षायिकमम्यक्त्व, अतराय के अभाव से अनन्तवीर्य (शक्ति), आयुकर्म के अभाव से अवगाहनत्व, नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व, और वेदनीय के अभाव से अव्यावाधत्व गुण उत्पन्न होता है ।

९. उर्ध्वगतित्व—जीव जब कर्म बध से सर्वथा रहित हो जाता है तब उर्ध्वगमन कर एक ही समय में सीधा लोकाग्र (मोक्षस्थान) में जा पहुँचता है । जब तक कर्म सहित रहता है तब तक मरने पर (स्थूल शरीर छोड़ने पर) दूसरा शरीर धारण करने के लिए आग्नेयी, नैऋति, वायव्य, ईशान चारों दिशिगात्रों के सिवाय पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारों दिशिगात्रों में तथा उर्ध्व-अधो (ऊपर-नीचे) श्रेणी बद्ध (सीधा) गमन करता और पहिले, दूसरे, तीसरे या चौथे समय में जन्म (नया स्थूल शरीर) धारण कर लेता है । अन्तराल में तीन समय से अधिक नहीं रहता ।

सारांश उपर्युक्त नवों प्रकार का यह है कि आत्मा का स्वाभाविक

आकार सिद्ध समान और गुण शुद्ध चैतन्य केवलज्ञान है। जब तक यह स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह अनादि कर्म संयोग से अनेक गरीर रूप और मति, श्रुतादि, विकल ज्ञानरूप रहता है।

पुद्गलद्रव्य

यह पुद्गल द्रव्य जड (अचैतन्य) है। स्पर्श^१ रस, गंध, वर्ण गुणों वाला है तथा इसमें गन्ध, वध, सूक्ष्मता, स्थूलता, द्विकोण, त्रिकोण, गोल आदि संस्थान (आकार,) खड्ग, अधकार, छाया, प्रकाश, आतप आदि पर्याये होती रहती है। पुद्गलकी स्वभावपर्याय परमाणु और स्वभावगुण दो अविच्छेद स्पर्श, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण ये ५ हैं, जो परमाणु में होते हैं। विभावपर्याय स्कन्ध और विभावगुण स्पर्शसे स्पर्शान्तर, रससे रसान्तर आदि २० हैं।

पुद्गलके अणुसे लेकर महास्कन्धवर्गणा तक कार्माण वर्गणा, तैजस वर्गणा, आहारकवर्गणा, भाषावर्गणा रससे मनोवर्गणा आदि २३ भेद हैं। हर प्रकार की वर्गणाओंसे जुड़े-जुड़े प्रकार के कार्य होते हैं। जैसे कार्माणवर्गणासे ज्ञानावरणादि कर्म, आहारकवर्गणासे औदारिक-वैक्रियक आहारक गरीर, भाषावर्गणासे भाषा, मनोवर्गणासे मन और महास्कन्ध वर्गणासे यह अविनाशी, अनादि-अनन्त लोक बना हुआ है।

पुद्गल परमाणुओंकी संख्या जो जीवोंसे अनन्तानन्त गुणी है वह इस प्रकार है कि कितने ही पुद्गल तो खुले हुए परमाणुरूप और कितने ही संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणुओंसे मिलकर स्कन्धरूप लोकमें भरे हुए हैं। सिवाय इसके प्रत्येक जीव के साथ अनन्त-अनन्त पुद्गल नोकर्म गरीर (स्थूल गरीर) तथा कर्म गरीर (सूक्ष्म गरीर) की दशा में बंधे हुए हैं। इस तरह जीवोंकी अक्षयानन्त संख्या से पुद्गल परमाणुओंकी संख्या अनन्तानन्तगुणी है।

धर्म द्रव्य

यह धर्म द्रव्य पुद्गल और जीवोंको गमन करनेमें उदासीन रूपसे गति-सहकारी है अर्थात् चलते हुए जीव पुद्गलोंको चलन-सहाई है, किन्तु

-
१. स्पर्श ८ प्रकार—शीत-उष्ण, रुक्ष-चिक्कण, हलका-भारी और नरम-कठोर। रस ५ प्रकार—खट्टा, मीठा, चिरपिरा, कड़ुवा और कपायला। गन्ध २ प्रकार—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण ५ प्रकार—श्वेत, पीला, नीला, लाल और काला।

जो स्थिर हो उन्हे घर्मद्रव्य हठात् (जबर्दस्ती) नहीं चलाता। जैसे पानी मछलियोंके चलनेमे सहायक होता है किन्तु प्रेरक नहीं होता। यह द्रव्य असख्यात प्रदेशी, जड, अरूपी और एक है। लोकाकाशके बराबर है, इसमे केवल स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती।

अधर्म द्रव्य

यह अधर्म द्रव्य पुद्गल और जीवोको स्थित होते (ठहरते) हुए उदासीन रूपसे स्थितिमे सहाई है अर्थात् जो पदार्थ ठहरे, उसे ठहरनेमे सहायता देता है। किन्तु चलते हुए पदार्थको हठात् नहीं ठहराता। जैसे पथिकको ठहरनेके लिये वृक्षकी छाया स्थिति-सहाई है किन्तु प्रेरक हो कर नहीं ठहराती। यह द्रव्य असख्यात प्रदेशी जड, अरूपी और एक है। लोकाकाश के बराबर है। इसमे स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

काल द्रव्य

यह काल द्रव्य वर्तना-लक्षण युक्त है। प्रत्येक द्रव्य के वर्तने अर्थात् पर्याय से पर्यायान्तर होने मे सहकारी—उदासीन कारण है। व्यवहारनयसे इसकी पर्याय समय, घटिका (घड़ी) दिन आदि है, क्यों कि काल द्रव्यके निमित्तसे ही द्रव्यो मे समय समय सूक्ष्म पर्याये होती हैं। आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक परमाणुके मन्द गतिसे गमन करनेमें जितना काल लगता है, वही काल द्रव्यकी समय नामक सबसे छोटी पर्याय है। इसीसे आवली, मुहूर्त, दिन, वर्ष, कल्प, काल आदिका प्रमाण होता है। यह द्रव्य जड अरूपी है इसके अणु (जिन्हे कालाणु कहते हैं) गिनती मे असख्यात जुदे जुदे हैं। यह घर्म, अधर्म द्रव्यके समान कायरूप एक नहीं है। किन्तु लोकाकाश, धर्म, अधर्म तथा एक जीव द्रव्यके बराबर ही असख्यात कालाणु, इसके अलग अलग हैं अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। इसमे स्वभाव पर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

आकाश द्रव्य

यह आकाश द्रव्य, जीव पुद्गलादि पाँचो द्रव्यो को रहनेके लिये अवकाश देता है, इसमे अवगाहनत्व गुण है। यह जड, अरूपी, अनन्त प्रदेशी एक द्रव्य है। इसमे स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती। इसके मध्य भाग के जिन असख्यात प्रदेशो (जितने क्षेत्र) मे जीव, पुद्गलादि पाँच

द्रव्य भरे हुए (स्थित) हैं—उसे लोकाकाश कहते हैं, शेष अनन्त अलोकाकाश कहाना है ।

सुख-दुःख के कारण

उपर्युक्त छह द्रव्यों में ४ द्रव्य उदासीन, सहकारी और स्वभाव रूप और स्थिर है । केवल जीव और पुद्गल में ही लोकभर में भ्रमण करनेकी शक्ति है, इसमें इन दोनोंको क्रियावान कहते हैं । शेष ४ द्रव्य निष्क्रिय हैं, पुद्गल जड़ है इसलिए चाहे स्वभाव अवस्था में रहे, चाहे विभाव अवस्था में रहे उसे कुछ सुख-दुःख नहीं होता, केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसे स्वभाव अवस्थामें सुख-शान्ति और विभाव अवस्था में दुःख होता है क्योंकि यह चैतन्य है ।

जीवात्मा अनादि काल से पुद्गल कर्म के सवन्धसे रागद्वेष रूप परिणमता, चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुखी हो रहा है । जब पूर्ववद्ध (पहिले का वाधा हुआ) कर्म उदय कालमें^१ सुख-दुःख रूप फल देता है तब जीव उस फल के अनुसार पुनः रागी-द्वेषी होकर, अपने मन, वचन, कायको शुभ अथवा अशुभ रूप प्रवर्तकर नये पुद्गल कर्मों का वध करता है । इस प्रकार जीव के प्राचीन कर्म उदयमें आकर खिरते जाते और फिर नये कर्म वधते जाते हैं, जिससे कर्म वधकी सतान नहीं टूटती और जीव को दही विलोने की मथानी की नाई सासारिक जन्म-मरणके चक्कर खाने पड़ते हैं, छुटकारा नहीं होता । जिस प्रकार मथानी से लिपटी हुई रस्मी का एक छोर खींचा जाय और दूसरा छोड़ दिया जाय तो वह चक्कर रहित हो सकती है । यदि उसी तरह जीव अपने पूर्ववद्ध कर्मों के उदय आने पर गात भाव धारण करे और रागी-द्वेषी न हो तो प्राचीन कर्म अल्प रस देकर या सत्ता में ही रस-रहित होकर बिना रस दिये हुए उदय में आकर भड़ जाये और नवीन कर्मोंका वध न हो । ऐसा होने से क्रामशः कर्मोंका अभाव होकर जीव निष्कर्म (शुद्ध) अवस्था को प्राप्त हो सकता है ।

१ गाता वेदनीयके उदय होने पर जीव की इच्छानुकूल अन्य पदार्थों का परिणमन सुख कहलाता है, यथार्थमें यह भी सच्चा सुख नहीं, सुखभ्रम मात्र है, क्योंकि यह स्वाधीन, नित्य, आत्मजनित नहीं है, पराधीन, क्षण-भंगुर और परजनित है । असाता वेदनीय के उदय होने पर जीवकी इच्छाके प्रतिकूल अन्य पदार्थों का परिणमन दुःख कहलाता है ।

जब परीक्षा तथा स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा अनुभव किया जाता है तो निश्चय होता है कि आत्मा का असली स्वभाव ज्ञान-दर्शन मात्र है, इसमें राग द्वेषकी लहरे मोह (ममत्व भाव) वग पुद्गल में अपनापन मानने के कारण उठती है, और यही मोह कर्मबन्धका मूल है, जैसे खानि में अनादि काल से स्वर्ण किट्टिका (पाषाण) युक्त अशुद्ध हो रहा है, तैसे ही जीव मोहके निमित्तमें पुद्गल कर्म मिश्रित ससार अवस्था को अनादि कालमें धारण कर रहा है अपने स्वरूपको भूल, मनुष्य, पशु, देव, नारकी, गोरा, काला आदि कर्म जनित पर्यायोको ही अपना आत्म स्वरूप निश्चय करता (मानता) हुआ बहिरात्मा हो रहा है। जिससे ज्ञान का पुज होते हुए भी किञ्चित्मति—श्रुत ज्ञानी, पूर्ण सुखका पुज होते हुए भी अति दुखी और आत्मीक शुद्ध (सिद्ध) अवस्था का पात्र होते हुए भी एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, आदि तुच्छ जीव हो रहा है। यदि यह जीव परीक्षा पूर्वक इन सब बातोंपर विचार करे अपने स्वभाव-विभावका बोध प्राप्त कर, उसपर दृढ विश्वास लावे तो अपने स्वरूप का ज्ञान—अन्तरात्मा हो सकता है। और फिर राग द्वेषको दूर कर शुभाशुभ कर्म करना छोड़ साम्यभाव धारण करे तो निष्कर्म हो अपने शुद्ध स्वभावको पाकर कृत-कृत्य परमात्मा हो सकता है।

जीवों के भेद

सम्पूर्ण ससारी जीवों के भव्यत्व, अभव्यत्व उपादान शक्तियों के कारण भव्य, अभव्य दो भेद हैं। ये शक्तियाँ जीवोंमें स्वयं हैं, किसीकी बनाई हुई नहीं हैं, जैसे मूग या चने कोई तो सीझनेवाले और कोई घोरङ्गू अर्थात् न सीझने वाले स्वयं ही होते हैं।

१. भव्य—जिनमें मोक्ष प्राप्ति होने (सीझने) की शक्ति होती है। ये तीन भेद रूप हैं—(१) निकट भव्य—जिनको सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के बाह्य कारण मिलकर अल्पकाल में ही मोक्ष हो जाता है। (२) दूरभव्य—जिनको उपर्युक्त प्रकार से दीर्घ काल में मोक्ष होता है। (३) दूरातिदूर (दूरानदूर) भव्य—जिनको बाह्य कारण सम्यग्दर्शनादि के अनन्त काल तक नहीं मिलते और न मोक्ष होता है, तथापि इनमें भव्यत्व शक्ति है।

२. अभव्य—जिनमें मोक्ष प्राप्ति करनेकी उपादान शक्ति ही नहीं, इनको सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के बाह्य कारण मिलनेपर भी मोक्ष नहीं होता।

निकट भव्य तथा दूर भव्य, पुत्र होनेकी उपादान शक्ति-युक्त विधवा स्त्री के समान, दूरातिदूर भव्य पुत्र होने की शक्तियुक्त विधवा स्त्रीके समान और अभव्य बाध स्त्री के समान है।

जीवो की मोक्ष होने न होनेकी अन्तरग उपादान शक्तियाँ अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ रूप से नहीं जान सकते। इसलिये सदा पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग् दर्शनउत्पन्न होने के कारण मिलाना चाहिये। जिन कारणोसे आत्मबोध हो उन कारणोके मिलानेका सदा पूर्ण प्रयत्न करते रहना हर एक मनुष्यका कार्य है।

सप्त तत्त्व

जीव, अजीव, आत्मव, वध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमे जीव, अजीव इन दो के अतिरिक्त शेष पांच तत्वो की उत्पत्ति “जीवाजीवविगेपा।” अर्थात् जीव और अजीव (पुद्गल) के सयोग तथा वियोग की विशेषतासे है। जीव पुद्गल का सयोग रहना ससार, और जीव-पुद्गलका वियोग हो जाना मोक्ष है। इसी कारण मोक्ष प्रकरण मे ये सप्त तत्त्व अति ही कार्यकारी हैं ये आत्मा के स्वभाव विभाव बतलाने के लिए दर्पण के समान है इनके ज्ञान-श्रद्धान विना जीव अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्था को नहीं पा सकता, अतएव इनका स्वरूप भली भाँति जानना अत्यावश्यक है।

मनसे प्रथम इन जीवादि तत्वो का विगेप स्वरूप जानना चाहिये, क्योंकि इनको विशेष रूप से जाने विना दृढ विश्वास नहीं हो सकता और दृढ निश्चय हुए विना कर्तव्याकर्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सप्त तत्वोके जाननेका मुख्य उद्देश्य यही है कि जिससे आत्माके स्वभाव-विभाव का श्रद्धान ऐसा हो जाय कि जीवसे पुद्गल (कामाणि वर्गणा) के सम्बन्ध होने के कारण आश्रव और वध है तथा जीवसे पुद्गलके (कर्म वर्गणाके अलग होनेके कारण) सवर, निर्जरा है इसलिये ममारके मूलभूत आत्मव, वधके कारणो को दूर करने और सवर, निर्जराके कारणोको मिलानेमे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार विशेष रूपसे आत्म श्रद्धानका होना सम्यग्दर्शन है। सो यह बात सात तत्वोके जाने विना होना असंभव है। इसी कारण स्पष्ट रूपसे आत्म श्रद्धान कराने वाला असाधारण कारण “तत्त्व श्रद्धान” सम्यग्दर्शन लक्षण है। और इन सप्त तत्वो के बोध कराने के निमित्त कारण देव, शास्त्र, गुरु हैं,

इसीलिये आरम्भिक दशा में देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को शास्त्रकारों ने सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुके निमित्त बिना इन जीवादि सप्ततत्त्वोंका उपदेश मिलना या बोध होना असंभव है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणों से जब यथार्थ आत्म श्रद्धान हो जाता है तब ये सभ्यता के सभी लक्षण अनुभव में एकसे आने लगते हैं।

जीव, अजीव (पुद्गल आदि पाँच जड पदार्थ) दो तत्वों का वर्णन तो द्रव्यों के प्रकरण में हो चुका है, शेष ५ तत्वों का वर्णन इस प्रकार है —

आस्रव तत्व

जीवों की मिथ्यात्व, अविरति, कपाय आदि भावों से युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होने से अथवा उनके अभाव में पूर्ववद्ध कर्मों के उदय होने से केवल योगों द्वारा आत्मप्रदेशों में चंचलता होती है जिससे पुद्गल परमाणु आत्मासे वद्ध होने के सन्मुख होते हैं यही द्रव्यास्रव है और जिन परिणामों या भावों से पुद्गल परमाणु (कार्माण वर्गणा) बन्ध के सन्मुख होते हैं उन भावों को भावास्रव कहते हैं। इस भावास्रव के विशेष भेद ५७ हैं। ५७।

मिथ्यात्व—अतत्त्व श्रद्धान को कहते हैं, अर्थात् यथार्थ तत्वों तथा उनके यथार्थ स्वरूपसे उल्टे, अयथार्थ तत्वों पर तथा उनके अयथार्थ स्वरूप पर विश्वास करना मिथ्यात्व है। इसके ५ भेद हैं—(१) एकान्त मिथ्यात्व—पदार्थों में अनेक धर्म हैं, उनमें से केवल एक ही को मानना, शेष सब का अभाव मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव-पुद्गल आदि द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य अर्थात् अनादि अनन्त है, न कभी ये उत्पन्न हुए हैं और न कभी नष्ट होंगे, परन्तु पर्याय अपेक्षा अनित्य भी है अर्थात् इनकी पर्याय पलटती रहती है, एक पर्याय नष्ट होती और दूसरी उत्पन्न होती है। अब यदि इनमें नित्य या अनित्य एक ही धर्म मानकर दूसरे का अभाव माना जाय, तो वस्तु का यथार्थ बोध नहीं हो सकता, न कोई क्रिया सध सकती है, क्योंकि वस्तु तो नित्य-अनित्य दोनों गुण युक्त है अतएव केवल एक गुण युक्त ही मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है। लोकस्थित सभी पदार्थों में अनेकानेक धर्म पाये जाते हैं, यद्यपि वचन द्वारा एक समय में एक ही धर्म कहा जा सकता है तथापि अपेक्षा पूर्वक कहने से अन्य धर्मों का अभाव नहीं ठहरता, जहाँ एक धर्म

मुख्यता से कहा जाय वहाँ दूसरे धर्मों की गौणता समझना चाहिये । ऐसा होने से ही पदार्थों में रहने वाले अन्य धर्मों का भी बोध होकर यथार्थ प्रवृत्ति होती है । जैसे ग्वालिन दही विलोते समय रई (मथानी) की रस्सीके एक हाथसे पकड़े हुए छोरको अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथमें पकड़े हुए छोरको ढीला कर देती है, सर्वथा नहीं छोड़ देती, तभी दहीका सार (घृत) हाथ लगता है । यदि दूसरे हाथसे रस्सी सर्वथा छोड़ दी जाय तो धीकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार अपेक्षारहित एक ही धर्मको लेकर पदार्थको सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक सर्वथा अनेक, सर्वथा द्वैत, सर्वथा अद्वैत माननेसे कार्यकी सिद्धि कुछ भी नहीं हो सकती । (२) विनय मिथ्यात्व—सुगुरु-मुदेव-सुधर्म, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म इन सबको एक सदृश मानना-पूजना या सच्चे तत्त्वोंको और झूठे तत्त्वोंको एकसा समझना, दोनोंको एक-सी महत्वपूर्ण दृष्टिसे देखना, मानना यह सब विनय मिथ्यात्व है । (३) विपरीत मिथ्यात्व—देव, गुरु, धर्म तथा तत्त्वों का जिस प्रकार यथार्थ स्वरूप है उससे उल्टा विश्वास कर लेना अर्थात् रागी-द्वेषी कुदेवोंमें^१ देवका, परिग्रहधारी कुगुरुओंमें गुरुका, हिसामयी अधर्ममें धर्मका और ससार के कारण रूप कुतत्त्वोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना यह सब विपरीत मिथ्यात्व है । (४) सशय मिथ्यात्व—अनेक मतोंके देव, गुरु, शास्त्र तत्त्वादि सुनकर सत्य-असत्यके निर्णयकी इच्छा न करना और विचारना कि अनेक मत तथा अनेक लोग अनेक तरहसे धर्मका स्वरूप वर्णन करते हैं, नहीं मालूम इनमें कौन सत्य है और कौन असत्य है ? इस प्रकार निर्णयकी इच्छासे रहित सन्देहरूप रहना सो सशय मिथ्यात्व है । (५) अज्ञान मिथ्यात्व—देव-कुदेव, धर्म-कुधर्म, वक्ता-कुवक्ता, शास्त्र-कुशास्त्र, तत्त्व-कुतत्त्व, जिन मन्दिर-अन्य मन्दिर, वीतराग प्रतिमा-साराग प्रतिमा, सच्चे साधु-असाधु, सयम-असयम आदि ससार तथा मोक्षके कारणोंके विषयमें विवेकरहित रहना सो अज्ञान मिथ्यात्व है । ५।

- १ जिन देवोंके पास रागका चिन्ह स्त्री और द्वेषका चिन्ह शस्त्र हो वे कुदेव हैं । जिन गुरुओंके अन्तरंगमें राग-द्वेष और बाह्य वस्त्र, धन, धान्यादिक परिग्रहसे प्रीति हो, जो गुरुपनेका अभिमान रखनेवाले और याचना करनेवाले हो वे सब कुगुरु हैं । जिन धर्म-क्रियाओंमें रागादि (भावहिंसा) की वृद्धि तथा त्रस व स्थावर हिंसा (द्रव्य हिंसा) हो, वह कुधर्म अथवा जिन शब्दोंमें हिंसाकी पुष्टि की गई हो, वे कुशब्द हैं । इसी प्रकार जिन तत्त्वोंके मानने और उनके अनुसार चलनेसे मसारकी परिपाटी बढ़ती हो, वे कुतत्त्व हैं । -

अविरति—पापोका त्याग न करना अविरति कहलाती है। इसके बारह भेद हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत और मन इन छहो को वशमें न करना, इनके विषयो में लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वीकायिक, जल कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक इन छः कायके जीवोकी रक्षा न करना, ये बारह अविरति हैं। १२।

कषाय—जो आत्मगुणको घाते अथवा जिससे आत्मा मलिन (विभावरूप) होकर बंध अवस्थाको प्राप्त हो सो कषाय है। इसके २५ भेद हैं। ४ अनतानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अनन्त ससारके कारणस्वरूप मिथ्यात्वमे तथा अन्यायरूप क्रियाओ मे प्रवृत्ति करानेवाले हैं। इनके उदयवश जीव सप्त व्यसनादि पापोको निरर्गल हो सेवन करता है। ४ अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ—इनके उदयमे श्रावकके व्रत रच-मात्र भी नहीं होते, तथापि अनन्तानुबन्धीके अभाव और सम्यक्त्वके सद्भावसे अन्यायरूप विषयो (सप्तव्यसन सेवन) मे प्रवृत्ति नहीं होती। इनके उदयसे न्यायपूर्वक विषयो मे अतिलोलुपता रहती है। ४ प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय यद्यपि मन्द हैं तथापि इनके उदय होते हुए महाव्रत (मुनिव्रत या सकलसयम) नहीं हो सकता, इसके क्षयोपगमके अनुसार देशसयम (श्रावकव्रत) हो सकता है। ४ सज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अति मन्द हैं, मुनिव्रतके साथ-साथ इनका उदय होते हुए भी यह सयमको विगाड नहीं सकते, केवल इनके उदय मे यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता। ६ हास्यादिक—(१) हास्य जिसके उदयसे हँसी उत्पन्न हो। (२) रति—जिसके उदयसे पदार्थों मे प्रीति उत्पन्न हो। (३) अरति—जिसके उदयसे पदार्थोंमे अप्रीति उत्पन्न हो। (४) शोक—जिसके उदयसे चित्तमे खेदरूप उद्वेग उत्पन्न हो। (५) भय—जिसके उदयसे डर लगे। (६) जुगुप्सा—जिसके उदयसे पदार्थों मे घृणा उत्पन्न हो। ३ वेद—(१) पुरुषवेद—जिसके उदयसे स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो। (२) स्त्रीवेद—जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो। (३) नपु सकवेद—जिसके उदयसे स्त्री-पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छा हो। २५।

योग—मन-वचन-कायद्वारा आत्म-प्रदेशोके कम्पायमान होनेको योग कहते हैं। ये १५ प्रकारके हैं। ४ मनोयोग—मनकी सत्यरूप प्रवृत्ति सो सत्य-मनोयोग है। मनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो असत्य मनोयोग है। मन की सत्य-असत्य दोनों मिश्ररूप प्रवृत्ति सो उभयमनोयोग है। मनकी सत्य-असत्य

कल्पना-रहित प्रवृत्ति सो अनुभयमनयोग है । ४ वचनयोग—वचनकी सत्य-रूप प्रवृत्ति सो सत्यवचनयोग है । वचनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो असत्य-वचनयोग है । सत्य-असत्य मिश्ररूप वचनकी प्रवृत्ति सो उभयवचनयोग है । सत्य-असत्य कल्पनारहित वचनकी प्रवृत्ति सो अनुभय वचनयोग है । ७ काययोग—औदारिकशरीरकी प्रवृत्ति सो औदारिक काययोग है । औदारिक मिश्र काय की प्रवृत्ति सो औदाकिक मिश्र काययोग है । वैव्रियिक शरीरकी प्रवृत्ति सो वैव्रियिक काययोग है । वैव्रियिक मिश्रकायकी प्रवृत्ति सो मिश्र काययोग है । आहारक काय की प्रवृत्ति सो आहारक काययोग है । आहारकमिश्रकायकी प्रवृत्ति सो आहारक मिश्र काययोग है । कामाणि-शरीरकी प्रवृत्ति सो कामाणि काययोग है । १५ ।

जब मन-वचन कायके योग तीव्र कपायरूप होते हैं तब पापास्रव होता है और जब मन्द कपायरूप होते हैं तब पुण्यास्रव होता है । जब कपाययुक्त योगोंकी प्रवृत्ति होती है तब सापरायिक आस्रव होता है और जब कपायरहित पूर्ववद्ध कर्मानुसार योग चलते हैं, तब ईर्यापथ आस्रव होता है । सापरायिक आस्रवमे प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिवन्ध, अनु-भागबन्ध चारो प्रकारका बन्ध होता है परन्तु ईर्यापथ आस्रवमे केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दो ही प्रकारका बन्ध होता है ।

बन्धतत्त्व

जीवके रागादिरूप अशुद्ध भावोंके निमित्तसे पौद्गलिक कामाणि-वर्गणाओका आत्माके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो बन्ध कहलाता है । पूर्ववद्ध द्रव्यकर्मके उदयसे आत्माके चेतन्य परिणामोका राग-द्वेषरूप परिणत होना सो भावबन्ध और आत्माके राग-द्वेषरूप होनेसे नूतन कामाणिवर्गणाओका आत्मासे एकक्षेत्रावगाहरूप होना द्रव्यबन्ध है । सो द्रव्यबन्ध चार प्रकार है - (१) प्रदेशबन्ध—जीवके मन, वचन, कायकी हीनाधिक प्रवृत्तिके अनुसार कर्मवर्गणाओका आत्म-प्रदेशोंसे एक-

१. औदारिक काययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त मनुष्य तिर्यच के और औदारिक मिश्रयोगकी अपर्याप्त मनुष्य तिर्यचके, वैव्रियिकाययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त देव-नारकीके और वैव्रियिकमिश्रयोगकी अपर्याप्त देव नारकीके, आहारक काय योगकी प्रवृत्ति दृष्टे गुणस्थान मे पर्याप्तआहारक पुतले के और आहारक मिश्रयोगकी अपर्याप्त आहारकपुतलेके, कामाणिकाय योगकी प्रवृत्ति अनाहारक अवस्थामे तथा केवल नमुद्धातके मध्यके ३ समयोंमें होती है ।

क्षेत्रावगाहरूप होना सो प्रदेशबन्ध है। सब संसारी जीवोके कार्माण-वर्गणाओका बन्ध प्रत्येक समयमे होता है। इन समयप्रबद्ध वर्गणाओमे ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोका अलग-अलग हीनाधिक विभाग होता है। वह विभाग या बटवारा इस प्रकार है—सबसे अधिक वेदनीयका, उससे कुछ कम मोहनीयका, उससे कुछ कम ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय तीनोंका (बराबर-बराबर), इनसे कुछ कम नाम, गोत्र—दोनोंका बराबर-बराबर और सबसे कम आयुकर्मका विभाग होता है। प्रतिसमय बधी हुई कार्माणवर्गणाओमे केवल आयुबन्धके योग्य त्रिभागके अन्तर्मुहूर्त कालको छोड़ शेष समयोमे सात कर्मरूप ही बटवारा होता है, और आयु बंधके योग्य त्रिभाग के अन्तर्मुहूर्त कालमे^१ ८ कर्मरूप बटवारा होता है (२) प्रकृति-बन्ध—कर्मके प्रत्येक बटवारेमे आई हुई वर्गणाओमे आत्मगुणके घातनेकी पृथक्-पृथक् शक्तियोका उत्पन्न होना सो प्रकृतिबन्ध है, जैसे ज्ञानावरणीमे ज्ञानकी आच्छादनेकी शक्ति, दर्शनावरणमे दर्शनको आच्छादनेकी शक्ति, मोहनीयमे आत्मज्ञानके होने देनेमे असावधानी करानेकी शक्ति, अन्तरायमे वीर्य अर्थात् आत्मबलको उत्पन्न न होने देनेकी शक्ति, आयुकर्ममे आत्माको शरीरमे स्थित रखनेकी शक्ति, नाम कर्ममे अनेक प्रकारके शरीर रचनेकी शक्ति, गोत्र कर्ममे नीच ऊँच गोत्रमे उत्पन्न करानेकी शक्ति, और वेदनीय कर्ममे सासारिक सुख-दुःख अनुभव करानेकी शक्ति होती है। (३) स्थिति-बन्ध—कषायकी तीव्रता-मन्दताके अनुसार उन कर्मवर्गणाओमे आत्मासे बंधरूप रहनेके कालकी मर्यादा का पड जाना स्थितिबन्ध है। इसमे उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-अन्तराय और वेदनीयकी ३० कोडाकोड़ी

-
- वर्तमान आयुके दो भाग बीत जानेपर तीसरे भागके आरम्भके अन्तर्मुहूर्तमे आयु बन्ध होनेकी योग्यता होती है। यदि वहाँ बंध न हो तो उम शेष एक भागके दो तिहाई काल बीत जानेपर शेष तीसरे भागके आरम्भके अन्तर्मुहूर्तमे आयुबन्धकी योग्यता होती है। इस प्रकार आठ विभागो मे आयुबन्ध की योग्यता होती है। यदि इन आठोमे बंध न हो—तो आवलीका असंख्यातवा भागमात्र समय मरनेमे शेष रहे उसके पूर्व अन्तर्मुहूर्तमे अवश्य ही आयुका बंध होता है। प्रकट रहे कि जिस त्रिभागमें आयुका बन्ध हो जाता है। उसमे तथा उसके पीछे त्रिभागोके आरम्भिक अन्तर्मुहूर्त कालमे आठ कर्मरूप बटवारा अवश्य होता है।

सागरकी, नाम-गोत्रकी २० कोडाकोड़ी सागरकी, मोहनीयकी ७० कोडा-कोड़ी सागरकी (चारित्रमोहनीयकी ४० कोडाकोड़ी सागरकी, और दर्शन-मोहनीयकी ७० कोडाकोड़ी सागरकी) तथा आयुकी ३३ सागरकी पड सकती है। जघन्यस्थिति ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय और आयुकी अतर्मुहूर्त, नाम-गोत्रकी ८ मुहूर्त और वेदनीयकी १२ मुहूर्तकी पड सकती है। (४) 'अनुभागबन्ध—कपायोकी तीव्रता मन्दताके अनुसार उनकर्म-वर्गणाओमे तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर रस (फल) देनेकी शक्तिका पडना अनुभाग बन्ध कहलाता है। यह रसशक्ति घातिया कर्मोमे जल-अस्थि-दारु-लतारूप, अघातिया कर्मोकी पापप्रकृतियोंमे हलाहल-विष-काजी-नीमरूप और पुण्य प्रकृतियोंमे अमृत-शर्करा-खाड-गुडरूप इस तरह चार-चार प्रकारकी होती है।

योगकी प्रवृत्तिमे प्रदेश-प्रकृति बन्ध और कपायोकी प्रवृत्तिसे स्थिति-अनुभाग बन्ध होता है। इसलिए जब कपाययुक्त योगकी प्रवृत्ति होती है तब प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग चारो प्रकार का बन्ध होता है। यह चारो प्रकारका बन्ध दशवे सूक्ष्मसापराय गुणस्थान तक होता है। ऊपरके गुण-स्थानोमे कपायोका अभाव होनेसे केवल योगोकी ही प्रवृत्ति होती है तब प्रदेश-प्रकृतिरूप दो ही प्रकारका बन्ध होता है। इन योग-कपायोकी विशेषतासे अष्ट कर्मोके बन्धमे जो विशेषता होती है उसका साराण इस प्रकार है—योगोके अधिक चलनेसे अधिक कामाणि वर्गणाओ का प्रकृति बन्ध प्रदेशबन्ध होता है और कम चलनेसे कम होता है। कपायोकी तीव्रतासे पाप रूप १०० प्रकृतियोंमे अनुभाग अधिक और ६८^१ पुण्यप्रकृतियोंमे अनुभाग कम तथा कपायोकी मन्दतासे ६८ पुण्यप्रकृतियोंमे अनुभाग अधिक और १०० पाप प्रकृतियोंमे अनुभाग कम पडता है। इसी प्रकार तीव्र कपायसे मनुष्य,

१ चारों घातिया कर्मोकी ४७ प्रकृतियाँ तो पापरूप ही हैं, अघातियोंमे शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र तथा सतावेदनीय आदि ६८ पुण्य प्रकृतिया और अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र तथा असाता वेदनीय आदि ५३ प्रकृतियाँ पापरूप हैं। इस प्रकार ८ कर्मोकी १०० प्रकृतिया पापरूप और ६८ पुण्यरूप है। यद्यपि अष्टकर्मोकी कुल प्रकृतिया १४८ ही हैं तथापि वर्ण रसादिकी २० प्रकृतिया पाप-पुण्य दोनोरूप ही होती हैं।

तिर्यं च, देव इन तीनों आयुकी स्थिति कम और शेष सब कर्म-प्रकृतियोंकी स्थिति अधिक पडती है और मंद कपाय होनेसे इन तीनों आयुकी स्थिति अधिक और शेष कर्म-प्रकृतियोंकी स्थिति कम पडती है ।

यहाँ यदि कोई सन्देह करे कि जड कर्मोंमें यह क्रिया आप ही आप कैसे हो जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक कालमें ग्रहण किया हुआ अन्न पेटमें पहुँचकर वायु, पित्त कफ, रस, रुधिरादि धातु उप-धातुरूप परिणमता है और उसमें पचनेके कालकी स्थिति तथा वायु, पित्त, कफादि रूप मदतेज रसशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जीवके शुभा-शुभ भावोकानिमित्त पाकर कार्माणवगणाय आत्मासे एक क्षेत्रावगाह होकर ज्ञानावरणादि अष्टप्रकार कर्मरूप परिणमती हैं और उनमें स्थिति-अनुभाग आदिका विशेष हो जाता है ।

संवरतत्त्व

जिन मिथ्यात्वादि भावोंके होनेसे कर्मास्रव होकर बन्ध होता है, उन भावोंका रुकना सो भावसंवर और कर्मवर्गणाओंके आगमनका रुकना सो द्रव्यसंवर है ।

इस जीवके मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योगोंद्वारा आस्रव होकर बन्ध होता है जो ससारभ्रमणका कारण है । अतएव आस्रव रोकनेके लिए सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे मिथ्यात्वका, अविरति और महाविरतिके धारण से अविरतिका, यथाख्यातचारित्र्यकी प्राप्तिसे कषायोका और योगप्रवृत्ति रोककर योग संवर करना प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुषका कर्तव्य है । इस प्रकार आस्रवों के रोकने की अपेक्षा संवरके ५७ भेद हैं । दशलक्षणधर्म-प्राप्ति, द्वादश-अनुप्रेक्षा-चिंतन, बाईस परीषद्-जय, पंच आचार, पंच समिति और तीन गुप्तिका पालन करना । इनका पूर्ण विवरण श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म के प्रकरणों में यथा स्थान दिया गया है ।

निर्जरा तत्त्व

पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश (कुछ अंश) क्षय होना निर्जरा कहलाती है । यह दो प्रकारकी है—(१) सविपाकनिर्जरा—जिससे कर्म उदय

कालमे रस (फल) देकर नष्ट हो, ऐसी निर्जरा सम्पूर्ण ससारी जीवोंके सदा काल होती रहती है। यह मोक्षमार्गमे कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि इससे नवीन कर्मवध होता है। (२) अविपाकनिर्जरा—परिणामोकी निर्मलतासे अर्थात् इच्छाओंको रोक, चित्तको रागद्वेपरहित करके ध्यान करने से व तप करनेसे पूर्वसंचित (सत्तास्थित) कर्मों का अपने उदय कालसे पहले ही विना रस दिये एक देश नाश (क्षय) हो जाना। यह अविपाक निर्जरा है, यह मोक्षमार्गमे कार्यकारी है, क्योंकि यह सवरपूर्वक होती है अर्थात् इसमे नवीन कर्मोंका वध नहीं होता।

मोक्ष तत्व

सर्वकर्मों के सर्वथा नाश होनेसे आत्माके स्वभाव-भावका प्रकट हो जाना अर्थात् भावकर्म (रागद्वेष), द्रव्य कर्म (ज्ञानावरणादि) तथा नोकर्म (औदारिक आदि शरीरो) से रहित होकर अपने अनन्तज्ञान-अनन्तद्वर्गनादि आत्मीक गुणोंको प्राप्त होना और सदाके लिये जन्म-जरा-मृत्युरहित निर्वन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाना सो मोक्ष है।

इन उपर्युक्त सप्त तत्वोंका चित्तवन करनेसे मिथ्यात्व मन्द पड़ता है और सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी सम्भावना हो जाती है।

जहाँ तहाँ शास्त्रोंमे उपर्युक्त सप्त तत्वोंके साथ पुण्य-पापको मिलाकर नव पदार्थोंका वर्णन किया गया है। यद्यपि पुण्य पाप आस्रवके ही भेद हैं, अर्थात् शुभास्रव पुण्यरूप और अशुभास्रव पापरूप है, तथापि आचार्योंने व्यवहारी-मन्दबुद्धि जीवोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए पुण्य-पापको पृथक् रीतिसे वर्णन किया है। यहा पर जो आस्रवके ५७ भेद कहे गये हैं, उनमे ५ मिथ्यात्व और १२ अविरति तो पापास्रवके ही कारण हैं और कपाय तथा योगोंकी जब शुभरूप प्रवृत्ति होती है तब पुण्यास्रव होता है। और अशुभ रूप प्रवृत्ति होती है तब पापास्रव होता है

सम्यक्त्वका स्वरूप

इस प्रकार ऊपर कहे हुए द्रव्यों तथा तत्वोंका स्वरूप भली भाँति जानकर उनपर दृढ़ विज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या श्रद्धान

कहाता है। यह श्रद्धान् धर्मरूप वृक्षकी जड़, यथार्थमे तत्त्वज्ञानपूर्वक आत्म-धर्ममे श्रद्धा-रुचि, प्रतीतिरूप है। आप्त, आगम, पदार्थादिका श्रद्धान् निश्चय सम्यक्त्वका कारण है इसलिए व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है और आत्म-श्रद्धान् कार्यरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है जो आत्माका स्वभाव है। इसके उत्पन्न होनेपर उपाधिरहित शुद्धजीवकी साक्षात् अनुभूति (स्वानुभव-गोचरता) होती है। यह अनुभव अनादिकालसे मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कर्मके उदयसे विपरीत रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शन मोहकी एक मिथ्यात्व प्रकृतिकी ही सत्ता होती है। जब जीवका पहिले ही पहिल तत्व श्रद्धान् होनेसे उपशमसम्यक्त्व होता है तो उस समय मिथ्यात्वकी उदयरहित अवस्थामे परिणामोकी निर्मलतासे उस सत्तास्थित मिथ्यात्व प्रकृतिका द्रव्य शक्तिहीन होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व (सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व इन तीनरूप होजाता है। इसके सिवाय अनन्तानुबन्धी ब्रोध-मान-माया-लोभकी चार प्रकृतियां भी इस मिथ्यादर्शनकी सहकारिणी हैं। इसी कारण अनादिमिथ्यादृष्टिके ४ अनन्तानुबन्धी, १ मिथ्यात्व और सादिमिथ्या-दृष्टि^१ के ४ अनन्तानुबन्धी, ३ मिथ्यात्वकी सत्ता होती है और इन्ही पाच या सात प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्ति मे उपादानकारण परिणाम और बाह्यकारण सामान्यरूपसे द्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी योग्यताका मिलना है। द्रव्यमे प्रधान द्रव्य तो साक्षात् तीर्थकरके दर्शन-उपदेशादि है। क्षेत्रमे समवसरण, सिद्ध-क्षेत्रादि है। कालमे अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल ससार परिभ्रमणका शेष रहना है। भावमे अथ प्रवृत्तआदि करण (भाव) है। तथा विगेषकारण अनेक है। जैसे—किसीके अरहतके विम्बका दर्शन करना है, किसीके तीर्थ करके जन्मकल्याणआदिकी महिमाका देखना है, किसीके जातिस्मरण (पूर्व जन्मकी बातों की स्मृति) है, किसीके वेदना (दुख) का अनुभव है, किसी के धर्मश्रवण और किसीके देवादिककी ऋद्धिका देखना है। इत्यादि

- १ जिस जीवको अनादिकालसे कभी सम्यक्त्व (आत्माके स्वभावविभावोका श्रद्धान्) नहीं हुआ उमे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और जो सम्यक्त्व होकर पुन आत्मश्रद्धान्से च्युत होकर मिथ्यात्वी हो जाता है उसे-सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

सहकारी अनेक कारण हैं। भव्य जीवको जब इनमे से कोई वाह्य कारण मिलता है तब सम्यक्त्वकी वाचक उपर्युक्त ५ या ७ प्रकृतियोंका उपगम (अन्तर्मुहूर्त तक उदय आकर रस देनेके अयोग्य) होनेसे उपगम सम्यक्त्व हो जाता है। इस सम्यक्त्वकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। पञ्चात् नीचे लिखी चार अवस्थाओंमेसे कोई एक अवस्था अवश्य हो जाती है। अर्थात्—जो मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आ जाय तो मिथ्यात्वी, अनन्तानुवन्धी किसी कषायका उदय हो जाय तो सासादन-सम्यग्दृष्टि, और जो मिश्रमोहनीयका उदय हो जाय तो मिश्रसम्यक्त्वी हो जाता है, अर्थात् उसके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे विलक्षण मिश्ररूप परिणाम हो जाते हैं, जैसे गुडमिश्रित दहीका खट्टा-मीठारूप मिश्रित स्वाद होता है। कदाचित् किसी जीवके सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्वका उदय हो जाय तो क्षयोपशम या वेदक^१ सम्यक्त्व हो जाता है। इसकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साविक ६६ सागर है। यद्यपि क्षयोपशम सम्यक्त्वमे सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्वके उदयसे किंचित् मल-दोष लगते हैं तथापि वे मल-दोष सम्यक्त्वके घातक न होने से सम्यक्त्व नहीं छूटता। जब जीवके सम्यक्त्वकी विरोधिनी उपर्युक्त ७ प्रकृतियोंकी सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साविक (कुछ अधिक) तेतीस सागर है। इस प्रकार उपगम, क्षयोपगम, क्षायिकके भेदसे सम्यक्त्व ३ प्रकार है।

‘पञ्चाध्यायी’ मे सम्यक्त्वको परमावधि, सर्वाविधि तथा मन पर्यय ज्ञानका विषय कहा है, सो दर्शनमोहकी कर्म प्रकृतिके उपगम, क्षयोपशम या क्षय (को जानने) की अपेक्षा जान पड़ता है। अन्य ग्रन्थोमे यह भी कहा है कि सम्यक्त्वके परिणाम (भाव) केवलज्ञानगम्य हैं सो सम्यक्त्व होने पर आत्मामे जो निर्मलता उत्पन्न होती है उस भावकी अपेक्षा कहा हुआ जान पड़ता है। छद्मस्थ (अल्प ज्ञानी) के प्रकट रूपसे ज्ञानमे आनेके लिए परिणामोके प्रकट होने योग्य चिन्होकी परीक्षा करके सम्यक्त्वके

१. सम्यक्त्व घातक सर्वघातिया (४ अनन्तानुवन्धी, मिथ्यात्व और मिश्र मिथ्यात्व) प्रकृतियोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा क्षयोपगम सम्यक्त्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व के उदयकी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

जाननेका व्यवहार है यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ—व्यवहारी जीवके सम्यक्त्वके होनेका निश्चय न होने से आस्तिक्यका अभाव ठहरे और व्यवहारका सर्वथा लोप हो जायेगा। इसी कारण आप्त (सच्चे देव) के कहे हुए बाह्य चिन्हों की आगम (शास्त्र), अनुमान तथा स्वानुभवसे परीक्षा करके निश्चय करना योग्य है।

किसी जीवके तो पूर्व जन्मके तत्त्वविचार की वासना से वर्तमानमें परोपदेशके विना निसर्गज सम्यक्त्व (स्वत) ही उत्पन्न होता है तथा किसी के वर्तमान पर्याय में उपदेश पाकर तत्त्वविचार करने से अधिगमज सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। पहिले कह ही चुके हैं कि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति के बाह्य कारण देव, गुरु, शास्त्रका समागम, उपदेश की प्राप्ति, विभव का देखना, वेदना—तकलीफ का अनुभव आदि है। नरक में यद्यपि देव, गुरु, शास्त्र का समागम नहीं है, तो भी तीसरे नरक तक तो स्वर्गवासीदेव जाकर, उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा सकते हैं, तथा नीचे के नरको में वेदनाजनित दुखों के अनुभव से सम्यक्त्व हो सकता है। देवोंमें देवदर्शन, गुरु उपदेश आदि वनही रहा है। मनुष्यो, तिर्यचोमें देव, गुरु, शास्त्र का समागम तथा पूर्वभवस्मरण भी सम्यक्त्वका कारण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि चारों गति के सैनी पर्याप्त भव्यजीवों को जागृत अवस्था में सम्यक्त्व हो सकता है। तिसपर भी मुख्यतया मनुष्य पर्याय में जितनी अधिक योग्यता सम्यक्त्व तथा चारित्र्य प्राप्ति की है—उतनी और पर्यायों में नहीं। मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी अमूल्य नौका है जिसपर चढ़कर जीव ससार सागरसे पार हो मुक्तिपुरी में पहुँच सकता है। फिर भी अन्य पर्यायोंमें जो थोड़ासा कारण पाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है सो भी पूर्वकाल में मनुष्य पर्याय में तत्वों की भलीभाँति ऊहापोह (छानवीन) करनेका फल है। इसप्रकार दृढ विश्वास (सम्यक्त्व) के प्राप्त होने पर ही चारित्र्य का धारण करना कार्यकारी हो सकता है। अन्यथा विना उद्देश्यों के समझे वृत्ते व्रतादि धारण करना अन्धेकी दौड़ के समान व्यर्थ अथवा अल्प (निरतिशय) पुण्यवधका कारण होता है। देखें सम्यक्त्वकी महिमा, जिसके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थको द्रव्यलिगी मुनिसे भी श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि यद्यपि द्रव्यलिगी मुनि चारित्र्य पालन करता है तो भी सम्यक्त्व-रहित होने से मोक्षमार्गी नहीं है। और गृहस्थ चारित्र्य रहित है तो भी सभ्यवत्त्वसहित होने से मोक्षमार्गी है। सम्यक्त्वरहित होने पर देवायु के सिवाय नरक, तिर्यच, मनुष्य आयुका वध नहीं होता, यदि सम्यक्त्व होने के पूर्व नरकायु

का वध हो गया हो, तो सम्यक्त्व सहित प्रथम नरक तक अथवा सम्यक्त्व छूटकर तीसरे नरक तक जाता है, नीचे नहीं जाता। यदि तिर्यच या मनुष्यायु का वध हो गया हो तो सम्यक्त्व होने पर भोगभूमि का मनुष्य या तिर्यच होता है। सम्यक्त्वी जीव भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषीदेव, स्त्रीपर्याय, स्थावर, विकलत्रय तथा पशुपर्यायमे नहीं जाता, किन्तु सम्यक्त्वके प्रभाव से जबतक निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति न हो, तबतक इन्द्र, चक्रवर्ती मण्डलीक राजा, तीर्थकर आदि महान् अभ्युदययुक्त पद पाना हुआ अल्पकालमे ही मोक्ष जाता है।

इस क्षेत्र मे इस घोर पचमकालमे साक्षात् पचपरमेष्ठी का समागम मिलना दुर्लभ है। इससे उनके रचित जैनागम तथा उस पवित्र मार्गके अनुसार प्रवर्तनेवाले सम्यक्त्वी वा एकदेगचारित्र के धारक विद्वानों के समागम द्वारा तत्त्वार्थ श्रद्धानपूर्वक आत्मश्रद्धान करना तथा इससे गका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियों की प्रगसा-इन पाच अतीचारोको त्याग, सम्यक्त्वको निर्दोष करना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्वरूपी दृढ़नीवके बिना चारित्ररूपी महल नहीं बन सकता, इसी कारण आचार्योंने कहा है कि “सम्म धम्मो मूलो” सम्यक्त्व धर्मकी जड़ है। इसके प्राप्त होते ही कुज्ञान सुज्ञान और कुचारित्र मुचारित्र हो जाता है। सम्यक्त्व होने से ही कर्तव्या-कर्तव्यका ज्ञान होकर आत्महित के मार्ग मे यथार्थ प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्व होने पर ही चारित्रमोह के अभाव के लिए सयम धारण करनेसे आत्मस्वभाव (धर्म) की उत्पत्ति अर्थात् कषायादि विभाव भावोका अभाव होकर शुद्ध चैतन्य भाव प्रकट होता है।

सम्यक्त्वके चिन्ह

सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह तो उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माकी अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है तथापि सम्यक्त्व होने पर इस अनुभूतिका स्वसवेदन ज्ञानद्वारा इस प्रकार आस्वाद एव अनुभव होता है—“यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हू तथा जो विकार है सो कर्म-जनित भाव है मेरा स्वरूप नहीं।” इस प्रकार भेद ज्ञानपूर्वक ज्ञानका आस्वाद, ज्ञानकी तथा आत्माकी अनुभूति कहलाती है। यह अनुभूति शुद्ध-नयका विषय, स्वानुभवगोचर और वचनश्रवणगोचर है। यह अनुभूति ही सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह है जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे उत्पन्न होता है। इसके होनेसे प्रशम, सवेग, अनुकषा, आस्तिक्यादि

गुण प्रकट होते हैं, इन गुणोंके आश्रयसे ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जाननेका व्यवहार है। इस विषय में अपनी परीक्षा तो अपने स्वसवेदन ज्ञान से होती है और दूसरी की उनके मन, वचन, कायकी चेष्टा एवं क्रियाद्वारा की जाती है।

जिस सम्यक्त्वके साथ प्रशम, सवेग, अनुकंपा, आस्तिक्ययुक्त राग-भाव होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। और जिसमें केवल चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपकी विशुद्धता होनी है उसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि कषायोंकी मन्दता, ससारसे उदासीनता, धर्मानुराग, अहिंसारूप भाव, और तत्त्व श्रद्धानकी दोनों सम्यक्त्वोमें समानता है तथापि अहिंसामें जैसे वीतरागभाव और दया में जैसे सरागभाव होते हैं वैसे ही सराग, वीतराग सम्यक्त्वके भावोंमें अन्तर है। वीतराग सम्यक्त्वमें आत्मश्रद्धान वीतरागता लिये उदासीनतारूप और सराग सम्यक्त्वमें रागभावादियुक्त अनुकम्पादिरूप होता है। ये सराग-वीतराग विशेषण सम्यक्त्व में चारित्र्यमोहकी अधिकता हीनताकी अपेक्षा है। सराग सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे छठे गुणस्थान तक शुभोपयोगकी मुख्यता लिये होता है। और वीतराग सम्यक्त्व सातवें गुणस्थानमें शुद्धोपयोग की मुख्यता लिये होता है। अब यहाँ इन चारों चिन्होंका स्पष्ट स्वरूप कहते हैं।

१ प्रशम—मिथ्यादृष्टियोंमें तथा उनके बाह्यभेषों में सत्यश्रद्धानका अभिमान, आत्माके अतिरिक्त शरीरादि पर्यायों में आत्मबुद्धिका अभिमान व प्रीति, कुदेवादिकमें भक्ति, और अन्यायरूप विषय (सप्तव्यसनादि) सेवनमें रुचि ये सब बातें अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होती हैं, परन्तु जिस जीवके प्रशमभाव उत्पन्न हुआ हो उसके ऐसे भाव नहीं होते अथवा जिस प्रकार अपना बुरा करनेवालोंके घात करनेका विचार मिथ्यादृष्टि करता है वैसा निर्दयभाव सम्यग्दृष्टि नहीं करता। वह विचारता है कि मेरा भला-बुरा जो कुछ हुआ है वह वास्तवमें मेरे शुभाशुभ परिणामों द्वारा बध्ने हुए पूर्वसंचित कर्मोंका फल है। ये अन्य पुरुष तो निमित्तमात्र है। ऐसे यथार्थ विचारोंके उत्पन्न होनेसे उस प्रशमवान् जीवकी कषाय मन्द रहती है अथवा अप्रत्यक्षानावरण कषायके उदयवश न्यायपूर्वक विषयोंमें लोलुपता तथा गृहस्थीके आरम्भादिकमें प्रवृत्ति होती है सो भी बहुत विचारपूर्वक होती है। वह विवश इन कार्योंको करते हुए भी भला नहीं समझता, अपनी निन्दा-गर्हा करता रहता है। वह विचारता है कि कौन

समय हो, जब इन जजालोसे दूर होकर इष्ट-सिद्धिके सन्मुख होऊ। ऐसी कषायोकी मन्दताको प्रशम कहते हैं। जहां अनतानुवधी कषायकी चौकड़ी सम्बन्धी रागद्वेषका अभाव हो जाता है, सो प्रशम है।

२ संवेग--धर्म तथा धर्मके फलमे अनुराग एव परम उत्साहका उत्पन्न होना संवेग कहलाता है। इसको अभिलाषा या वाछा नहीं कह सकते, क्योंकि अभिलाषा या वाछा इन्द्रिय-विषयो की चाह को कहते हैं, सो वह यहा है नहीं, यहा तो केवल आत्म हितरूप शुभ वाछा है। इसीमे ससार-शरीर भोगोसे विरक्तिरूप निर्वेद भी गर्भित है, क्योंकि जब पंचपरिवर्तनरूप ससारसे भयभीतपना होकर अपने आत्मस्वरूप धर्मकी प्राप्तिमे अनुराग होता है तभी अन्य सासारिक विषयाभिलाषाओसे तथा परद्रव्योसे सच्ची विरागता होती है यही निर्वेद कहलाता है।

३. अनुकम्पा-- अन्य प्राणियोको दुखी देखकर दयावश दुखी होना, उनके दुख दूर करनेका शक्तिभर उपाय करना, न चले तो पश्चात्ताप करना और अपना बड़ा दुर्भाग्य मानना। इस प्रकार अनुकम्पा करनेसे अपने तई पुण्यकर्मका वन्ध होनेके कारण तथा कुछ अशोमे पापकर्मके बधसे बचनेके कारण अपनी आत्मापर भी अनुकम्पा होती है।

४ आस्तिक्य - लोकमे (ससारमे) जो जीवादि पदार्थ हैं उनका भली भाँति बोध दो प्रकारसे होता है। एक तो हेतुवाद से नय-प्रमाणद्वारा। दूसरे सूक्ष्म स्वभावसे (इन्द्रियोके अगोचर जैसे-परमाणु), अन्तरित (कालसे अन्तरवाले जैसे—राम-रावण), दूरवर्ती (देशकी अपेक्षा जैसे—मेरु) पदार्थोका आगम प्रमाणसे। अतएव अपनी बुद्धिपूर्वक की हुई श्रद्धाको अथवा सर्वज्ञ वीतराग देव (केवली) ने सूक्ष्मादि पदार्थोका जैसा निरूपण किया है यथार्थमे पदार्थोका स्वरूप वैसा ही है, अन्यथा प्रकार नहीं, इस-प्रकारकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं।

कई ग्रन्थोमे सम्यक्त्वके संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन ८ गुणोका उत्पन्न होना कहा है। सो ये आठो गुण उपर्युक्त चारों भावनाओ मे ही गर्भित हो जाते हैं। प्रशममे निन्दागर्हा और संवेगमे निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति गर्भित हैं।

सम्यक्त्वके अष्ट अंग

सम्यक्त्वके ८ अङ्ग होते हैं—नि शङ्कित, नि कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन या उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना—

१ नि शङ्कित अंग—शङ्का नाम सशय तथा भयका है। इस लोकमें धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, द्वीप, समुद्र, मेरु पर्वतादि दूरवर्ती पदार्थ, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, राम-रावणादि अन्तरित पदार्थ हैं। इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञ-वीतरागभाषित आगममें कहा गया है सो सत्य है या नहीं? अथवा सर्वज्ञ देवने वस्तुका स्वरूप (अनेकान्तात्मक अनन्तधर्मसहित) कहा है सो सत्य है कि असत्य? ऐसी शङ्का उत्पन्न न होना नि शङ्कित अंग है, क्योंकि ऐसी शङ्का तो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है।

मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है। इसीको पर्यायबुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदयसे मिली हुई शरीरादि सामग्री-को ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इस अन्यथा बुद्धिसे ही सप्त प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं—इहलोकभय, परलोकभय मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय। जब इनमें से किसी प्रकारका भय हो तो जानना चाहिये कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हुआ है।

यहाँपर कोई शङ्का करे कि भय तो श्रावको तथा मुनियोंके भी होता है, क्योंकि भयप्रकृतिका उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भयका अभाव सम्यक्त्वकी कैसे सम्भव हो सकता है। उसका समाधान—सम्यग्दृष्टिके कर्मके उदयका स्वामीपना नहीं है और न वह परद्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्व-भावका नाश मानता है। पर्यायका स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुए भी दर्शनमोह सम्बन्धी भयका तथा तत्त्वार्थश्रद्धानमें शङ्काका अभाव होनेसे वह नि शङ्क और निर्भय ही है। यद्यपि वर्तमान पीडा सहनेमें अशक्त होनेके कारण भयसे भागता, इलाज आदि भी करता है तथापि तत्त्वार्थ श्रद्धानसे चिगनेरूप दर्शनमोह सम्बन्धी भयका लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान-श्रद्धानमें निःशङ्क रहता है।

२ नि कांक्षित अंग—विषय-भोगोंकी अभिलाषाका नाम काक्षा या

वाँछा है यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्मके उदय से होता है, इसके चिन्ह ये हैं—पहिले भोगे हुए भोगोकी वाँछा, उन भोगो की मुख्य क्रियाकी वाँछा, कर्म और कर्मके फलकी वाँछा, मिथ्यादृष्टियोंको भोगोकी प्राप्ति देखकर उनको अपने मनमें भले जानना अथवा इन्द्रियोकी रुचिके विरुद्ध भोगोमें उद्वेगरूप होना ये सब सांसारिक वाँछाएँ हैं। जिस पुरुष के ये न हो सो नि काक्षित अङ्ग-युक्त है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्मके उदयकी जवर्द-स्तीसे इन्द्रियोको वश करनेमें असमर्थ है इसलिए पचइन्द्रियो के विषय सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है। जानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदयजनित शुभ फलोकी वाँछा नहीं करता, यहाँ तक कि व्रतादि शुभाचरणोको आत्म-स्वरूपके साधक जान आचरण करते हुए भी हेय जानता है।

३ निर्विचिकित्सा अंग—अपनेको उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने, तई श्रेष्ठ माननेसे दूसरेके प्रति जो तिरस्कार करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं। यह दोष मिथ्यात्वके उदयसे होता है। इसके बाह्य चिन्ह ये हैं—जो कोई पुरुष पापके उदयसे दुःखी हो वा असाताके उदयसे ग्लान-शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानि रूप बुद्धि करना कि “मैं सुन्दर रूपवान्, संपत्तिवान्, बुद्धिमान हूँ, यह रक-दीन, कुरूप मेरी बराबरीका नहीं।” सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव कदापि नहीं होते वह विचार करता है कि शुभाशुभ कर्मोंके उदयसे जीवोकी अनेक-प्रकार विचित्र दशा होती है। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आ जाय तो मेरी भी ऐसी ही दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है। इसलिये वह दूसरोको हीन-बुद्धि से या ग्लान-दृष्टिसे नहीं देखता।

४ अमूढदृष्टि अंग—अतत्त्वमें तत्त्व श्रद्धान करनेकी बुद्धिको मूढ़-दृष्टि कहते हैं। वह मिथ्यात्वके उदयसे होती है। जिनके यह मूढदृष्टि नहीं, वे अमूढदृष्टि अंग-युक्त सम्यग्दृष्टि हैं। इसके बाह्य चिन्ह ये हैं—मिथ्यादृष्टियोंने पूर्वापर विवेक बिना, गुण दोषके विचार रहित अनेक पदार्थोंको धर्मरूप वर्णन किया है और उनके पूजनेसे लौकिक और पार-मार्थिक कार्योंकी सिद्धि बताई है। अमूढदृष्टिका धारक इन सबको असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकारकी लौकिक मूढताओंको निस्सार तथा खोटे फलोकी उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है। कुदेव, या अदेवमें देव बुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि, तथा इनके

निमित्त हिंसा करनेमें धर्म मानना आदि मूढदृष्टिपनेको मिथ्यात्व समझ दूर ही से तजता है, यही सम्यक्त्वीका अमूढदृष्टिपना है। अमूढदृष्टिकी प्राप्तिके लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान करना आवश्यक है :

देव—जिस किसी भी आत्मासे रागादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वह देव कहलाता है। यहाँ देव शब्दसे देवगति सम्बन्धी चार प्रकारके देव नहीं, किन्तु परमात्मा समझना चाहिये। देव सामान्य अपेक्षासे तो एक ही प्रकार है, परन्तु विशेष अपेक्षा अर्हत्, सिद्ध दो प्रकार है तथा गुणोकी मुख्यता, गौणताकी अपेक्षा तथा नामादि भेदसे अनेक प्रकार हैं तो भी अर्हत्, सिद्ध ये प्रसिद्ध है। इनका स्वरूप इस-प्रकार है—(१) 'अर्हत्' या अर्हत्—जिस आत्माने गृहस्थावस्थाको छोड़कर मुनिपद धारणकर लिया हो और शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातियाकर्मोंका नाश करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य (अनन्तचतुष्टय) की प्राप्ति कर ली हो और जो परम औदारिक शरीरमें रहकर भव्य-जीवों को मोक्षमार्गका उपदेश देता हो, उसे अर्हत् कहते हैं। अर्हत्में आन्तरिक अनन्तचतुष्टय गुणोंके सिवाय बाह्य ३४ अतिशय, अष्टप्राप्तिहार्य और भी होते हैं इस तरह बाह्य-अभ्यन्तर सब मिलाकर ४६ गुण होते हैं। (२) सिद्ध—जो पौद्गलिक देहरहितपरमात्मा लोकके शिखर (अन्त) में स्थित हैं, अष्ट कर्मके अभावसे आत्मिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणमण्डित हैं, जन्म, जरा, मरणसे रहित हैं, और अनन्त, अविनाशी आत्मिक सुखमें मग्न हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। इन ही अर्हत्-सिद्ध-परमात्माके गुणोंकी अपेक्षा अनेक नाम हैं यथा—अर्हत्, जिन, सिद्ध, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शंकर, त्रिलोकज्ञ आदि।

गुरु—जो साँसारिक विषय-कपायोसे विरक्त होकर आरम्भ परिग्रह को त्याग मोक्षसाधनमें तत्पर हों और स्वपर-कल्याणमें कटिबद्ध हो, वे गुरु कहलाते हैं। वास्तवमें ऐसे परम गुरु तो अर्हन्त देव ही हैं, क्योंकि उक्त सब गुण इनमें ही पूर्णताको प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त इनकी परिपाटीमें चलने वाले, छद्मस्थ, क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक, निर्ग्रन्थ दिग्गम्वर मुद्राधारी भी गुरु हैं। क्योंकि इनमें भी एकदेश रागादि दोषोंकी हीनता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यकी शुद्धता पाई जाती है। यही शुद्धता सवर-निर्जरा-मोक्षका कारण है। ये ही गुरु मोक्षमार्गके उपदेशक हैं। इस प्रकार सामान्यरीतिसे गुरु एक प्रकार है और विशेष रीतिसे पदके अनु-

सार आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन भेदरूप है। इन तीनोंमें मुनिपन-की ब्रिया, बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्तिका साधन, शक्ति अनुसार तप, साम्यभाव, मूलगुण, उत्तरगुण धारण, परीपह उपसर्ग सहन, आहार-विहार-निहार की विधि, चर्या-आसन-शयनकी रीति, मोक्षमार्गके मुख्य साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यकी प्रवृत्ति, ध्यान-ध्याता-ध्येयपना, ज्ञान-ज्ञाता ज्ञेयपना, चरित्र-आराधनाका आराधन, क्रोधादि कषायो का जीतना आदि सामान्यरीत्या मुनियोंके आचरणकी समानतासे अभिन्नता है। इनकी विशेषताएँ मुनि-धर्म प्रकरण में बताई गई हैं।

ये तीनो प्रकारके साधु दयाके उपकरण पीछी, शीघ्र के उपकरण कमडलु और ज्ञानके उपकरण शास्त्रयुक्त होते हैं, और आगमोक्त ४६ दोष ३२ अन्तराय १४ मलदोष वचा कर शुद्ध आहार लेते हैं। ये ही मोक्षमार्गके साधक सच्चे साधु हैं और ये ही गुरु कहलाते हैं।

शास्त्र—जो सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी आप्त (अर्ह त) द्वारा कहे गये हैं। अर्थात् अर्ह त देवकी दिव्य-ध्वनि से उत्पन्न हुए हो, जिनका वादी प्रतिवादियोंद्वारा खडन न हो सके, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे विरोध रहित हो, तत्वोपदेशके करनेवाले, सबके हितैषी और मिथ्या अध-कारके दूर करनेवाले हो, वे ही सच्चे शास्त्र (आगम) हैं। ऐसा नहीं कि यह प्राकृतभाषामय हैं या संस्कृतभाषामय हैं अथवा बड़े आचार्योंके नामसे वेष्टित है इसलिये ये हमारे मान्य हैं, हम इन्हींके वाक्योंको मानेंगे, किन्तु वस्तु-स्वरूपके निर्णय करनेमें अनेक आगमोंका अवलोकन, युक्तिका अवलबन, परम्परा या उपदेशक गुरु और स्वानुभव इन चारका भी आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निर्णय करनेसे जो वस्तुस्वरूप निश्चित हो वही श्रद्धान करने योग्य है। क्योंकि इस घोर पचमकालमें कषायभावसे कई पाखण्डियोंमें शास्त्रोंमें महान-महान आचार्योंसरीखे नामोंको रचियताके स्थानपर लिखकर अन्यथा धर्म-विरुद्ध, विषय-कषायपोषक रचनाएँ भी कर डाली हैं। इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्रके वर्णनके भीतर पचपरमेष्ठीका सक्षिप्त स्वरूप कहा गया है।

५. उपगूहन अंग—इसको उपवृंहण भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्ममें अज्ञानता अथवा अशक्ततासे उत्पन्न हुई निन्दाको योग्य रीतिसे दूर करना तथा अपने गुणोंको वा दूसरोंके दोषोंको ढाँकना सो उपगहन है। पन. शास्त्री

तथा अन्य जीवोकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-शक्तिका बढ़ाना, सो उपब्रंहण है।

६. स्थितिकरण अंग—आप स्वयं या अन्य पुरुषकर्म के उदयवश ज्ञान, श्रद्धान चारित्र से ढिगते या छूटते हो, तो अपने को व उन्हें दृढ तथा स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है।

७. वात्सल्य अंग—अहं त, सिद्ध, उनके विम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध सष तथा शास्त्रोमे अन्त करणसे अनुराग करना—भक्ति-सेवा करना, सो वात्सल्य अंग है। यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिये जैसे स्वामीमे सेवककी अनुराग-पूर्वक भक्ति होती है या गायका बछड़ेमे उत्कट अनुराग होता है। यदि इनपर किसी प्रकारके उपसर्ग या सकट आदि आवे, तो अपनी शक्तिभर मेटनेका यत्न करना चाहिए, शक्ति नहीं छिपाना चाहिए।

८. प्रभावना अंग—जिस तरहसे वन सके, उस तरहसे अज्ञान अंधकारको दूर करके जिन शासनके महात्म्यको प्रकट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्म-गुणोको उद्योतरूप करना अर्थात् रत्नत्रयके तेजसे अपनी आत्माका प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्षदायक जिनधर्मको दान-तप-विद्या आदिका अतिगय प्रगट करके तन, मन, धनद्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो) सब लोकमे प्रकाशित करना सो प्रभावना है। इस प्रकार ऊपर कहे हुए आठ अंग जिस पुरुषके २५ मल दोषरहित प्रगट हो वह सम्यग्दृष्टि है।

२५ मल दोष

अष्ट दोष—उपर्युक्त अष्ट अंगोसे उल्टे (विरुद्ध) शका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना ये अष्ट दोष मिथ्यात्वके उदयसे होते हैं। इसलिये सम्यक्त्वके अष्ट अंगोका जो स्वरूप ऊपर कहा गया है उससे उल्टा दोषोका स्वरूप जानना चाहिये। इन दोषोको मन-वचन-कायसे त्यागनेसे सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। यद्यपि जहाँ तहाँ इनको अतीचाररूप कहा है तथापि ये त्यागने ही योग्य है, क्योंकि जैसे अक्षरन्यून मंत्र कभी विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अगरहित सम्यक्त्व ससारभ्रमणको नहीं मिटा सकता। पुन इनके होनेसे तीन मूढता, षट् अनायतन, अष्ट मद ये दोष उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्व को दूषित करके नष्ट कर देते हैं, अतएव ये अष्टदोष त्यागने योग्य हैं।

तीन मूढता (१) देव मूढता—किसी प्रकारके वर (सांसारिक भोगो या पदार्थो की इच्छाकी पूर्ति) की वांछा करके रागी-द्वेषी देवोकी उपासना

करना, उन्हे पाषाणादिमे स्थापित करना, उनकी पूजनआदि करना देवमूढता है । (२) गुरुमूढता—परिग्रह, आरम्भ और हिसादिदोषयुक्त पाखंडी-भेषियोका आदर-सत्कार-पुरस्कार करना गुरुमूढता है । (३) लोक मूढता—जिस त्रियामे धर्म नहीं, उसमे अन्यमतियोंके उपदेशसे तथा स्वयमेव विना विचारे देखादेखी प्रवृत्ति करके धर्म मानना सो लोकमूढता है । जैसे सूर्यको अर्घ देना, गंगास्नान करना, देहली पूजना, सती होना (मृतक पतिके साथ चितापर जल जाना) आदि ।

षट् अनायतन—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म (कुशास्त्र) तथा इनके सेवकोंको धर्मके स्थान समझ कर उनकी स्तुति-प्रशंसा करना सो षट् अनायतन है । क्योंकि ये छहो वित्कुल ही धर्मके ठिकाने नहो है ।

आठ मद—(१) पूजा (वडप्पन,) (२) कुल (पितापक्ष) (३) जाति (माता-पक्ष), (४) बल (५) ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) (६) तप (७) ज्ञान तथा (८) शरीरकी सुन्दरता-रूपका मद करना और इनके अभिमान वश धर्म-अधर्मका, हित अहितका, कुछ भी विचार न करना, आत्मधर्म तथा आत्म-हित को भूल जाना । जिस तरह मद्य पीनेवाला मद्य पीकर वेसुध हो जाता है, उसी तरह मदोमे भूला हुआ धर्मकी ओरसे वेसुध हो जाता है ।

सम्यक्त्वकी निर्मलताके लिए उपर्युक्त २५ मल दोषोका सर्वथा त्याग करना ही योग्य है ।

पंचलब्धियाँ

सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए नीचे लिखी हुई पाँच बातों की प्राप्ति (लब्धि) होना आवश्यक है —

(१) जीवको इस ससारमे भ्रमण करते हुए जब कभी पापकर्मका उदय मन्द तथा पुण्य प्रकृतियोंका उदय तीव्र होता है तब वह पचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल, शारीरिक नीरोगता, दीर्घायु, इन्द्रियोंकी पूर्णता, कुटुम्बकी अनुकूलता, आजीविकाकी योग्यता आदि सामग्री पाकर कुछ सुखी और धर्मके सन्मुख होने योग्य हो सकता है । इस प्रकार की सामग्रीके प्राप्त होनेको क्षयोपशम लब्धि कहते हैं ।

(२) क्षयोपशम लब्धि द्वारा साता प्राप्त होनेपर जब कुछ मोह तथा कपाय मन्द होती है, तब वह जीव न्याय मार्ग तथा शुभकर्मों मे रुचि करता हुआ धर्मको हितकारी जान उस की खोज करता है, सो विशुद्धिलब्धि है ।

(३) तत्त्वोंकी खोजमें प्रयत्नशील होनेपर पूर्ण भाग्योदय वश वीतराग-विज्ञानी-हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा उनके द्वारा कथित शास्त्रों का व उनके मार्गके श्रद्धानी सदाचारी विद्वानोंका समागम मिलना, उनके द्वारा धर्मका स्वरूप और सासारिक दशाका सत्य स्वरूप प्रकट होना तथा उनके द्वारा प्राप्त हुए उपदेशके धारण करनेकी शक्तिका होना सो देशना लब्धि कहलाती है। इतना होनेपर जीव मनमें विचारने लगता है कि यथार्थमें ये ही देव, धर्म, गुरु और इनके मार्गमें प्रवर्तनेवाले अन्य सत्पुरुष हमको सुमार्ग बतलानेवाले हमारे हितैषी हैं ये स्वयं संसारसागरसे पार होते हुए दूसरोंको भी पार करनेवाले हैं और जो रागी-द्वेषी देव, गुरु, धर्म, है वे पत्थरकी नावके समान स्वयं संसारमें डूबनेवाले और अपने आश्रित-जनोंको डूबोनेवाले हैं। वह इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि हर एक मतमें जब नाममात्रके तत्त्वज्ञानी तथा संसारसे विरक्त पुरुष माने जाते हैं तो जो पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) और संसारसे अत्यन्त विरक्त एवं विरक्ति उत्पन्न (वीतरागी) देव, गुरु, धर्म है, वे सर्वोपरि आत्मकल्याणकारी और पूज्य क्यों न हो ? तथा उनके कहे हुए तत्त्व हितकारी क्यों न हो ? अवश्य ही हो। क्योंकि जिस तत्त्वोपदेशदातामें सर्वज्ञता-वीतरागता अर्थात् रागद्वेष रहितपना (क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय तथा इन्द्रियोका विषय वासनासे राहित्य) होगा, वही उपदेष्टा सच्चा आप्त हो सकता है। उसीके वचन हितकारी तथा मानने योग्य हैं। क्योंकि जो स्वतः जिस मार्गपर चल कर परम उत्कृष्ट स्थान (परमेष्ठीपने) को प्राप्त हुआ है, वही संसारी जीवोंको उस पवित्र मार्गका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मुख कर सकता है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं, किन्तु राग-द्वेष और अल्पज्ञता है उसके वचन कदापि हितकारी आदरणीय नहीं हो सकते। सो यथार्थमें देखा जाय तो उपर्युक्त पूर्ण गुण भगवान् अर्ह तमें ही पाये जाते हैं, या एक देश उनके अनुयायी दिगम्बर आचार्यादिकोमें होते हैं। जब ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह विचारने लगता है कि मैं कौन हूँ ? पुद्गल शरीरादिसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? संसार (जन्ममरण) का कारण क्या है ? इसके छूटनेका क्या उपाय है ? कर्मबन्धनसे छूटनेपर आत्मा किस हालतको प्राप्त होता है ? और इसके लिए मुझे क्या कर्तव्य करना चाहिए ?

(४) जब इस प्रकार आत्महितका विचार और ऊहापोह किया जाता है और काललब्धिकी निकटता होती है तब पूर्वमें वध किए हुए सत्ता-

स्थित कर्मों की स्थिति घटकर अंत कोटा कोटी सागर^१ की रह जाती है और नवीन वधनेवाले कर्म भी ऐसी ही मध्यम स्थितिको लेकर वधते हैं। ऐसी दशामे शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) बढ़ने लगता है और पाप प्रकृतियोंका रस घटने लगता है। इस प्रकारकी योग्यताकी प्राप्ति प्रायोग्य लब्धि कहलाती है।

(५) इन उपर्युक्त चार लब्धियोंके प्राप्त होनेपर जब जीव तत्त्व-विचारमे सलग्न होता है और उसके परिणामोमे अतर्मुहूर्तके अनतगुणी विशुद्धता होती है। तब इस विशुद्धतारूप करणलब्धि के बलसे सम्यक्त्वकी घातक मिथ्यात्वप्रकृति अनतानुवधी चौकड़ी इन पाचो प्रकृतियोंका (अनादि मिथ्यादृष्टिके पाच और सादिमिथ्यादृष्टिके सात) अतर्मुहूर्तके लिये अत करण पूर्वक उपशम (उदय न होना, सत्तामे स्थित रहना) हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्वके कालमे परिणामोकी निर्मलताके कारण मिथ्यात्व प्रकृतिके द्रव्यका अनुभाग क्षीण होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इन तीन रूप परिणम जाता है। सम्यक्त्व होनेके पूर्व जो मिथ्यात्व तथा अनतानुवधी कपाय अपनी तीव्र दशामे इस जीवको आत्महितकरनेवाले तत्वोके विचारो के निकटवर्ती नही होने देते तथा मोक्षमार्गसे विमुख विचारोमे उद्यत करते थे, उन्हीके उदयके अभावसे जीवका सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो जाता है, जिससे सच्चे देव, धर्म, गुरु पर, सात तत्वो पर तथा आत्मतत्त्व पर पुरुषार्थी मुमुक्षुओकी अटूट भक्ति तथा दृढ श्रद्धा हो जाती है। जीवको प्रथम उपगम सम्यक्त्व ही होता है। पश्चात् उपगम सम्यक्त्वका काल (अतर्मुहूर्तपूर्ण होनेपर सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदय होनेसे क्षयोपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है। जो जीव क्षयोपशम सम्यक्त्वकी दशामे ४ अनतानुवधी तथा तीन मिथ्यात्व इन सातोका क्षय कर देता है उसके क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है।

सम्यक्ज्ञान-प्रकरण

दोहा निश्चय आत्मज्ञान पुनि, साधन आगम-बोध।

सम्यग्दर्शन पूर्व जिहि, सम्यग्ज्ञान विगोध ॥१॥

आत्मामे अनत स्वभाव तथा शक्तिया है। पर सबसे ज्ञान मुख्य है, क्योंकि इसी प्रसिद्ध लक्षणद्वारा आत्माका बोध होता है तथा आत्मा इसीके

१. कोट (करोड) मागरसे ऊपर कोटाकोटी (करोड × करोड) सागरसे नीचे अर्थात् इन दोनोंके मध्यवर्ती कालको अत कोटाकोटी सागर कहते है।

द्वारा प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ससारी अशुद्ध आत्माका ज्ञान अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मसे आवृत्त (ढँका) हो रहा है तो भी सर्वथा ढक नहीं गया, थोड़ा बहुत सदा खुला ही रहता है, क्योंकि गुणका सर्वथा अभाव कभी होता नहीं। जैसा-जैसा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम घटता बढ़ता, वैसा-वैसा ज्ञान घटता बढ़ता रहता है। जब तक दर्शन मोहनीय कर्मका उदय रहता है, तब तक ज्ञान कुज्ञानरूप परिणमता है। जब आत्मा तथा पुद्गलकर्मका भेद-विज्ञान हो जाता और मोहके उदयका अभाव होने या मद पडनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है तब वही ज्ञान सुज्ञान हो जाता है। प्रगट रहे कि यद्यपि आत्माका यह ज्ञान गुण अखण्डित चैतन्यरूप एक ही प्रकार है, तथापि अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मकी मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी, अवधिज्ञानावरणी, मन.पर्ययज्ञानावरणी, केवलज्ञानावरणी इन पाँच प्रकार कर्म प्रकृतियों से आवृत्त होनेके कारण यह ज्ञान खंड-खंड रूप हो रहा है इसी कारण ज्ञानके सामान्यतः ५ भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमे केवलज्ञान के सिवाय शेष ४ ज्ञान तो अपने-अपने आवरणके हीनाधिक क्षयोपशमके अनुसार कम बढ़ होते हैं। सिर्फ केवलज्ञान केवलज्ञानावरणीके सर्वथा क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। इन पाँचो ज्ञानोमेसे मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यारूप रहते हैं और तब मिथ्याज्ञान कहलाते हैं, सम्यक्त्व होने पर सम्यक् रूप सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। विशेष यह भी है कि परमावधि और सर्वावधि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, मिथ्या नहीं होते। इसी प्रकार मन पर्यय तथा केवलज्ञान भी सम्यक् ही होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इन पाँचो ज्ञानोमे यद्यपि मतिश्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष है, तथापि इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेसे मतिज्ञान साव्यवहारिक—प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधि, मन पर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक जीवके कम-से-कम मति, श्रुत ये दो ज्ञान प्रत्येक दशामे अवश्य ही रहते हैं।

मतिज्ञान

मति ज्ञानावरण, वीर्यन्तरायके क्षयोपशमके अनुसार इन्द्रियो और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहा जाता है जैसे—स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्शका जानना, रसना इन्द्रियसे रसका जानना, नासिका इन्द्रियसे गंधका बोध होना, चक्षु इन्द्रियसे रूपका बोध करना, श्रोत्र इन्द्रियसे शब्द-श्रवण करना तथा मनकी सहायतासे किसी विषयका स्मरण करना ये सब मतिज्ञान हैं। प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमान ये भी मतिज्ञान ही हैं। इस मति-

ज्ञानके पाचो इन्द्रियो व छठे मनके द्वारा बहु बहु-विधि आदि जेय पदार्थोंके अर्थाविग्रह, व्यजनावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होनेसे ३३६ भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञानद्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंके अवलम्बनसे पदार्थों से पदार्थान्तरका जानना सो श्रुतज्ञान है। यह अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक दो प्रकारका होता है। जैसे स्पर्श नेन्द्रियद्वारा ठण्डा ज्ञान होनेपर 'ये मुझे अहितकारी है' ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है, इसकी प्रवृत्ति सैनी पचेन्द्रियको मनको सहायतासे स्पष्ट और एकेन्द्रियसे असैनी पचेन्द्रिय तक मनके विना आहार, भय, मैथुन परिग्रह सज्ञाओ तथा मतिज्ञानकी सहायतापूर्वक यत्किंचित् सामान्य आभास मात्र होता है। पुन 'घोड़ा' ये दो अक्षर पढ़कर या सुनकर घोड़ा पदार्थका जानना ऐसा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान केवल सैनी पचेन्द्रियोके ही होता है। इसी कारण 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' ऐसा तत्त्वार्थशास्त्रमे कहा हुआ है। दोनों ज्ञानोमे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही मुख्य है, क्योंकि सासारिक लेन-देन, तथा पारमार्थिक मोक्षमार्ग सम्बन्धी सपूर्ण व्यवहार इसीके द्वारा होता है। यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, जघन्य एक अक्षरसे लेकर उत्कृष्ट अग-पूर्व-प्रकीर्णकरूप जितना केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनिके अनुसार श्रीगणधर देवने निरूपण किया है उतना है। इस श्रुतज्ञान का विषय केवल ज्ञानकी नाई अमर्यादारूप है। अवधि मन रयज्ञानकी नाई मर्यादारूप नहीं है। रूपी-अरूपी सभी पदार्थ इसके विषय हैं। अन्तर यह है कि केवलज्ञान विशद् प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद-परोक्ष है।

अवधिज्ञान

अवधि ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादाको लिये हुये रूपी पदार्थोंको (इन्द्रिय-मनकी सहायता विना ही) आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष जाने, वह अवधिज्ञान कहलाता है। यह दो प्रकारका होता है। (१) भवप्रत्यय—जो देव, नारकी, छद्मस्थ-तीर्थंकरके सर्व आत्मप्रदेशोमे अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। इन जीवोंके अवधिज्ञानका मुख्य कारण भव ही है और यह देशावधिरूप ही होता है। (२) गुणप्रत्यय—पर्याप्त मनुष्य तथा सजी पचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचके सम्यग्दर्शन तथा तप गुणसे नाभिसे ऊपर किसी अग-में शंख-चक्र-कमल-वज्र साधिया-मत्स्य (मछली)-कलश आदि चिन्हयुक्त

आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। यह देशावधि, परमावधि, सर्वावधि तीनोरूप होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी-अननुगामी, अवस्थित-अनवस्थित, वर्धमान-हीयमानके भेदसे ६ प्रकारका होता है। जो अवधिज्ञान जीवके एक भवसे दूसरे भवमें साथ चला जाय सो भवानुगामी, जो भवान्तरमें साथ न जाय सो भवाननुगामी है। जो अवधिज्ञान क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ चला जाय सो क्षेत्रानुगामी है और जो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ न जाय सो क्षेत्राननुगामी है। जो अवधिज्ञान भव तथा क्षेत्रसे भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ जाय सो उभयानुगामी और जो भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ न जाय सो उभयाननुगामी है। जो अवधिज्ञान जैसा उपजे तैसा ही बना रहे सो अवस्थित और जो घटे-बढ़े सो अनवस्थित। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेपर क्रमशः बढ़ता हुआ उत्कृष्ट हृद तक चला जाय सो वर्धमान और जो क्रमशः घटकर नष्ट हो जाय सो हीयमान है।

अवधिज्ञानके सामान्यसे तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि, सर्वावधि।

(१) देशावधि इसका विषय तीनोमें थोड़ा है, यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनोंरूप होता है तथा सयमी-असयमी दोनोंके होता है। इसका उत्कृष्ट भेद मनुष्य-महाव्रतीके ही होता है। यह प्रतिपाती (छूट जानेवाला) व अप्रतिपाती (न छूटनेवाला) दोनों प्रकारका होता है।

(२) परमावधि—मध्यम भेदरूप और (३) सर्वावधि—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही होता है। ये दोनों चरम-शरीरी तदभवमोक्षगामीके ही होते हैं। देशावधि-परमावधि दोनोंके विषयभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदोकी अपेक्षा असख्यात भेदरूप होते हैं, और सर्वावधि केवल एक भेदरूप ही होता है।

मनःपर्ययज्ञान

मनःपर्यय ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे, आगोपाङ्ग नामकर्मके अवलम्बनसे, मनके सम्बन्धसे, अवधिज्ञानद्वारा जानने योग्य द्रव्यके अनन्तवे भाग सूक्ष्म रूपी पदार्थको, जिस ज्ञानके द्वारा आत्मा स्वतः प्रत्यक्ष जाने, सो मन पर्ययज्ञान कहलाता है। इसका क्षयोपशम सयमी मुनियोंके ही मनके आत्म-प्रदेशोमें होता है (जहाँ मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम है)। इसके दो भेद हैं।

(१) ऋजुमति—जो परके मनमें तिष्ठते, सरल मनद्वारा चिन्तन किये हुये, सरल वचनद्वारा कहे हुये, सरल काय द्वारा किये हुये पदार्थको किसीके पूछे या बिना पूछे ही जाने, इस पुरुषने ऐसा चिन्तन किया, ऐसा कहा, ऐसा कायद्वारा किया, इस प्रकार आपके, परके जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभको ऋजुमति मन पर्ययज्ञानी जान सकता है।

(२) विपुलमति जो सरल वा वक्र मन, वचन, कायद्वारा चिन्तित, अर्ध-चिन्तित, अचिन्तित ऐसे ही कहे हुये-किये हुये, पुन कालान्तरमें विस्मरण हुए मनमें मौजूद पदार्थको पूछे या बिना पूछे ही जाने। इस प्रकार आपके वा पर के जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभको विपुलमति मन पर्ययज्ञानी जान सकता है।

केवलज्ञान

जानावरण, कर्मके सर्वथा ध्य होनेसे जो आत्माका स्वच्छ-स्वाभाविक ज्ञान प्रकट होता है सो केवलज्ञान है। यह आत्माके सर्व प्रदेशोंमें होता है, इसकी स्वच्छनामें लोकालोकके सम्पूर्ण रूपी-अरूपी पदार्थ अपनी भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालिक अनन्त पर्यायोंसहित युगपत् झलकते हैं। यह ज्ञान परमात्म-अवस्थामें होता है।

चार अनुयोग

सम्यग्दर्शनके विषयमें जितना कुछ कहा गया है वह ज्ञानका ही विषय है। यह सम्यग्दर्शन, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थमें उन्मुखी बुद्धि (श्रद्धा) उनमें प्रीति (रुचि) और दृढ विश्वास (प्रतीति) होनेसे होता है। इस प्रकार निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धानके साथ ही बुद्धानुभूति होती है। सम्यग्ज्ञानमें सशय-विपर्यय अनध्यवसाय नहीं रहते, सो ही शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है कि 'जीवादि मोक्षमार्गके उपयोगी पदार्थोंको न्यूनता-अधिकता, विपरीतता अथथार्थता तथा सन्देह-रहित - जैसाका तैसा जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है।'।

इस सम्यग्ज्ञानका मुख्य कारण श्रुतज्ञान है। विषयभेदसे इसके चार विभाग हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें आत्मज्ञानकी उत्पत्तिका कारणपना होनेसे इन्हे वेद भी कहते हैं।

(१) प्रथमानुयोग—इसमें मुख्यतया ६३ श्लाका पुरुषोका अर्थात् २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलभद्र, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायणका तथा इनके अन्तर्गत और भी अनेक प्रवान पुरुषोका चरित्र वर्णित है। चरित्रके

आश्रय पुण्यपापरूप कार्य तथा उनके फलका वर्णन है। इसके अध्ययन करने से जीव पापोसे हटकर पुण्यकी ओर भुक्तता और धर्मके सामान्य स्वरूपको जानकर विशेष जाननेका अभिलाषी होकर दूसरे-दूसरे अनुयोगोका अभ्यास करता है। आरभमे धर्मके सन्मुख करनेको उपयोगी होनेसे प्रथमानुयोग इसका सार्थक नाम है।

(२) करणानुयोग—इसमे तीन लोकका अर्थात् ऊर्ध्वलोक (स्वर्गों) का, मध्यलोक (मनुष्यलोक) का, अधोलोक (नरको) का विस्तारपूर्वक वर्णन है। तथा आत्मामे कर्मके मिश्रितपनेसे गति, लेश्या, कषाय, इन्द्रियाँ, योग, वेदादिरूप कैसी-कैसी विभाव अवस्थाए होती और कर्मोंकी हीनाधिकतासे उनमे किस-किस प्रकार अदल-वदल अथवा हानि-वृद्धि होती है, अथवा किस क्रमसे इनका अभाव होकर आत्मा निष्कर्म अवस्थाको प्राप्त होता है, कर्मोंके भेद, वध, उदय, सत्ता आदिका विस्तृत वर्णन है। इसका हर-एक विषय गणितसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसे करणानुयोग कहते हैं।

(३) चरणानुयोग—इसमे श्रावक (गृहस्थ) तथा मुनि (साधु) धर्मका वर्णन है। इसमे बताया गया है कि किस-किस प्रकार पापोके त्यागनेसे आत्म-परिणाम उज्ज्वल हो कर कर्मवधका अभाव होता है और आत्मा शुद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकता है। आत्मामे कर्मोंके वध होनेका कारण आत्मा-के मलीन भाव अर्थात् राग-द्वेष है और आत्माके कर्मवधसे छूटने (मुक्त होने का कारण निर्मल भाव है इसलिये इस अनुयोगमे ब्रमश उज्ज्वल भाव होनेके लिये आचरण-विधि बताई गई है इसलिये इसे चरणानुयोग कहते हैं।

(४) द्रव्यानुयोग—इसमे जीवादि षट्द्रव्यो, सप्त तत्त्वों, नव पदार्थों और जीवके स्वभावो-विभावो का वर्णन है, जिससे जीवको वैभाविक-भावोके त्यागने और स्वाभाविक भावोको प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न हो। इसमे द्रव्योका वर्णन विशेषरूपमे होनेके कारण यह द्रव्यानुयोग कहलाता है।

सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके आठ अङ्ग हैं—

(१) शब्दाचार—व्याकरणके अनुसार अक्षर-पद-वाक्योका शुद्ध उच्चारण करना।

(२) अर्थाचार—शब्दके यथार्थ अर्थको अवधारण करना।

(३) उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनोंकी शुद्धता करना ।

(४) कालाचार—योग्य कालमें श्रुत-अध्ययन करना । गोसर्ग काल (दोपहर-के दो घड़ी पहिले और प्रात कालके २ घड़ी पीछे), प्रदोपकाल (दोपहर के दो घड़ी पीछे तथा सध्याके २ घड़ी पहिले अथवा सध्याके २ घड़ी पीछे और अर्धरात्रिके २ घड़ी पहिले), विरात्रिकाल (अर्ध रात्रिके २ घड़ी पीछे और प्रात कालके २ घड़ी पहिले) इन कालोके सिवाय दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्र-घनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्पादि, उत्पातोके समय सिद्धान्त-ग्रन्थो (अङ्गपूर्वो) का पठन-पाठन वर्जित है । स्तोत्र-आराधना-धर्म-कथादि ग्रन्थोका पठन-पाठन वर्जित नहीं है ।

(५) विनयाचार—शुद्ध जलसे हस्त-पादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थानमें पर्यकासन बैठकर, पूज्यबुद्धिपूर्वक, नमस्कारयुक्त शास्त्र पठन-पाठन करना अथवा आप शास्त्रमर्मी होकर भी नम्ररूप रहना, उद्धतरूप न होना ।

(६) उपधानाचार—स्मरणसहित स्वाध्याय करना ।

(७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक, शिक्षक, विशेषज्ञानी इनका यथायोग्य आदर करना, ग्रन्थको लाते-लेजाते उठ खड़ा होना, पीठ नहीं देना, ग्रन्थको उच्चासनपर विराजमान करना, अध्ययन करते समय अन्य वार्तालाप न करना, अशुचि अंग, अशुचि वस्त्रादिक रहते स्पर्श न करना ।

(८) अनिल्लवाचार—जिस शास्त्र व जिस गुरुसे शास्त्र ज्ञान हुआ हो, उसका नाम न छिपाना, छोटे शास्त्र या अल्पज्ञानी शिक्षकका नाम लेनेसे मेरा महत्व घट जायगा, इस भयसे बड़े ग्रन्थ या बहुज्ञानी शिक्षकका नाम अपने नामके अर्थ असत्य ही न लेना, क्योंकि ऐसा करनेमें मायाचारका अति दोष होता है ।

इस प्रकार भलीभाति-रक्षापूर्वक-सम्यग्ज्ञानके अङ्गोके पालन करनेसे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम विशेष होकर ज्ञान बढ़ता है । इसमें एक विशेषता यह भी है कि जितने ग्रंथोंमें ससारकी आसक्ति घटती और चित्त स्थिर होता है उतना ही अधिक और शीघ्र ज्ञान बढ़ता है अतएव सम्यग्ज्ञान-की वृद्धि के लिए सासारिक स्थूल आकुलताओंका घटाना भी जरूरी है ।

सामान्य तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रद्धान होनेपर ज्ञानकी वृद्धि और परिणामो की निर्मलताके लिये सदा शास्त्राभ्यास करता रहे, जिससे पुण्यबन्ध होनेके साथ दिन-दिन पदार्थोंका विशेष बोध होता जाय ।

अनेकान्त व स्याद्वाद

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक तीर्थंकर थे। मन, वचन, और काय त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना, खासकर मानसिक अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा, वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना अशक्य थी। उन्होंने देखा कि आज का सारा राजकरण धर्म और मतवादियों के हाथ में है। जब तक इन मतवादों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ-दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तब तक हिंसा और संघर्ष की जड़ नहीं कट सकती। उन्होंने विश्व के तत्वों का साक्षात्कार किया और बताया कि विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़ तत्व अनन्त धर्मों का भण्डार है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव पूर्णरूप में नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तु के एक-एक अंश को जानकर अपने में पूर्णता का दुर-भिमान कर बैठा है। विवाद वस्तु में नहीं है, विवाद तो देखनेवालों की दृष्टि में है। काश, यह वस्तु के विराट् अनन्त धर्मात्मा या अनेकान्तात्मक स्वरूप की भाँकी पा सकते।

प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि अनन्त सन्तानस्थिति की दृष्टि से नित्य है। कभी भी ऐसा नहीं हो सकता जब विश्व के रंग मंच से एक कण का भी समूल विनाश हो जाय या उसकी सन्तति सर्वथा उच्छिन्न हो जाए। साथ ही उसकी पर्याय प्रतिक्षण बदल रही हैं। उसके गुण धर्मों में भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अन वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तु की निजी सम्पत्ति है। हमारा स्वल्प ज्ञानलव इनमें से एक-एक अंश को विषय करके क्षुद्र मतवादों की सृष्टि कर रहा है। उन्होंने बताया कि वस्तु में अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। हा, वस्तु की सीमा और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होगा। जड़ में चेतनत्व खोजा जाय या चेतन में जड़त्व, तो वह नहीं मिल सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्त धर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे, और अचेतनगत अनन्त धर्म अचेतन में। चेतन के गुण धर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में। हाँ कुछ ऐसे सादृश्यमूलक वस्तुत्व आदि सामान्यधर्म भी हैं जो

चेतन और अचेतन सभी द्रव्यों में पाये जा सकते हैं, परन्तु सबकी सत्ता जुदी जुदी है। तात्पर्य यह कि वस्तु इतनी विराट् है कि अनन्त दृष्टिकोणों से देखी और जानी जा सकती है। मानससमता के लिए इस प्रकार वस्तु-स्थिति मूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है।

शब्दों में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तु के पूर्णरूप को युगपत् कह सके। वह एक समय में एक ही धर्म को कह सकता है। अतः उसी समय वस्तु में विद्यमान जेप धर्मों का सूचन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ सुनिश्चित दृष्टिकोण या निर्णित अपेक्षा है, न कि गायद, सम्भव, या कदाचित् आदि। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है—स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु है ही, न कि गायद है, सम्भव है, कदाचित् है, आदि।

'स्यात्' शब्द विधिलिङ्ग में निष्पन्न होता है। वह अपने वक्तव्य को निश्चित रूप में उपस्थित करता है, न कि सशय रूप में। जैन तीर्थंकर ने पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थों के देखने का, उनके ज्ञान करने का और उनके स्वरूप को वचन से कहने का रास्ता भी दिखाया।

अनेकान्त दर्शन वस्तुतः विचारविकास की चरम रेखा है। अनेकान्त-दृष्टि वस्तु के उसी स्वरूप का दर्शन कराती है, जहाँ विचार समाप्त हो जाते हैं। जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती, तभी तक विवाद चलते हैं। अग्नि ठंडी है या गरम इस विवाद की समाप्ति अग्नि को हाथ से छू लेने पर जैसे हो जाती है, उसी तरह एक-एक दृष्टिकोण से चलने वाले विवाद अनेकान्तात्मक वस्तुदर्शन के बाद अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

अनेकान्त दर्शन को ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली 'स्याद्वाद' नाम की भाषा शैली का आविष्कार उसी अहिंसा के वाचनिक विकास के रूप में हुआ। जब वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उसको जाननेवाली दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है तब वस्तु के सर्वथा एक अशका निरूपण करने वाली निर्धारिणी भाषा वस्तु का यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली नहीं हो सकती। जैसे यह कलम, लम्बी, चौड़ी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हल्की, भारी आदि अनेक धर्मों का युगपत् आधार है। अब यदि शब्द से यह कहा जाय कि यह कलम 'लम्बी ही है' तो जेप धर्मों का लोप इस वाक्य से फलित होता है। जब कि उसमें उसी समय अनन्त धर्म विद्यमान है। न केवल

इसी तरह, किन्तु जिस समय कलम अमुक अपेक्षा से लम्बी है, उसी समय अन्य अपेक्षा से लम्बी नहीं भी है। प्रत्येक धर्म की अभिव्यक्ति सापेक्ष होने से उसका विरोधी धर्म उस वस्तु में पाया ही जाता है। अतः विवक्षित धर्म-वाची शब्द के प्रयोगकाल में हमें अन्य अविवक्षित अशेष धर्म के अस्तित्व को सूचन करने वाले 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को नहीं भूलना चाहिए। यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मवाची शब्द को समस्त वस्तुपर अधिकार करने से रोकता है और कहता है कि भाई, इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि मुख्य तुम हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर तुम्हारा ही अधिकार हो, तुम्हारे अनन्त धर्म भाई इसी वस्तु के उसी तरह समान अधिकारी है जिस तरह कि तुम।

'स्यात्' शब्द सन्देह या सभावना को सूचित नहीं करता किन्तु एक निश्चित स्थिति को बताता है कि वस्तु अमुक दृष्टि से अमुक धर्म वाली है ही। उसमें अन्य धर्म उस समय गौण हैं।

'स्यात्' शब्द हिन्दी भाषा में भ्रान्तिवश शायद का पर्यायवाची समझा जाने लगा है। प्राकृत और पाली में 'स्यात्' का 'सिया' रूप होता है। यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ सदा प्रयुक्त होता रहा है।

प्रत्येक धर्मवाची शब्द के साथ जुड़ा हुआ 'स्यात्' शब्द एक सुनिश्चित दृष्टिकोण से उस धर्म का वर्णन करके भी अन्य अविवक्षित धर्मों का अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित करता है। कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो वस्तु के पूर्णरूप को स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। 'स्यात्' शब्द श्रोता को विवक्षित धर्म की प्रधानता से ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन कराता है।

सम्यक्चारित्र

निज स्वरूपमें रमणता, सम्यक्चारित परम।

व्यवहारें द्वैविधि कहो, श्रावक अरु मुनिधर्म ॥१॥

इस प्रकार ऊपर किये गए वर्णनके अनुसार मिथ्यात्वके अभाव होनेसे भव्य जीवोको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। साथ-साथ अनन्तानुवधी कषायके अभावसे स्वरूपाचरण चारित्र की प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्धात्मजनित निराकुल सच्चे सुखका अनुभव होने लगता है।

परन्तु तो भी चारित्र्यमोहकी अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियोंके उदयसे आत्मस्वरूपमे अमलता, अचलता नहीं होती। अतएव इसी दोषको दूर करनेके लिए उन्हें अणुव्रत महाव्रतादिरूप समय धारण करनेकी उत्कट इच्छा होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि चारित्र्यमोहकी तीव्रतावश, अनिवार्य बाह्य कारणोंसे पराधीन हुए, चारित्र्य धारण नहीं कर सकते, तथापि अन्तरगमे ससारमे विरक्त और मोक्षसे अनुरक्त रहते हैं। धर्म-मर्मी होजानेसे उन्हें पवित्र जैनधर्ममे तीव्र पक्ष हो जाता है। नियमपूर्वक एव क्रमसे व्रत न होनेके कारण यद्यपि वे अविरत हैं तथापि उनके अनन्तानुबन्धीके साथ अप्रत्याख्यानावरणका जैसा तीव्र उदय मिथ्यात्व अवस्थामे था, वैसा तीव्र उदय अनन्तानुबन्धी के अभाव होनेपर नहीं रहता, किन्तु मध्यमरूपसे रहता है जिससे अन्याय, अभक्ष्यसे वनसे रुचि नहीं रहती और न वे निरर्गलपनमे हिसामे प्रवृत्ति करते हैं। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा उत्पन्न हो जाने से सप्तव्यसन-सेवनकी बात तो दूर ही रही, इन्द्रियविषय जनित सुख उन्हें दुःखमय भासने लगते हैं। अन्तरगमे उन्हें आत्मसुख झलकने लगता है और विषयसुखोंसे घृणा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीवको दृढ श्रद्धान हो जाता है कि मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य शक्तियुक्त होता हुआ कर्माविरणके कारण क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनरूप अनेकाकार हो रहा हूँ, राग-द्वेषसे मलिन हो निजात्मस्वरूपको छोड़ अन्य पर-पदार्थोंमे रत हो रहा हूँ, इसलिए कब चारित्र्य धारण कर राग-द्वेषका समूल नाश करूँ और निष्कर्म होकर निजस्वरूप मे लीन हो शात दशा प्राप्त करूँ। इस प्रकार स्वरूपाचरण चारित्र्यका अंश उत्पन्न होना ही सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गीका असाधारण चिन्ह है। सो ही शास्त्रोंमे स्पष्ट कहा है—“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः” अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षमार्ग है। यदि सम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरण चारित्र्यका अंश उत्पन्न न हो तो वह मोक्षमार्गी नहीं ठहर सकता।

इस प्रकार ससारसे उदासीनता और आत्महितकी इच्छा उत्पन्न होते ही कोई विरल उत्तम जीव, जिनके चारित्र्यमोहका मद उदय हो अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषायकी चौकड़ीका उपशम हो गया हो, भव्यता निकट आ गई हो, जो दृढ सहननके धारक हो वे एकाएक निर्ग्रन्थ (मुनि) धर्म धारण कर आत्मस्वरूपका साधन करते हैं। जिनके चारित्र्य मोहकी अल्प मदता हुई हो, अप्रत्याख्यानावरणकी चौकड़ीका

उपशम हुआ हो, जो हीन शक्तिके धारक हों, वे श्रावक-व्रतोंका अभ्यास करते हुए क्रमशः विषय-कषायोंको घटा कर पीछे मुनिव्रत धारण करते और मोक्षके पात्र बनते हैं, यही राजमार्ग है। क्योंकि विषय-कषाय घटाये बिना मुनिव्रत धार लेना अकार्यकारी स्वांगमात्र है। अतएव सम्यक्त्व होने पर राग-द्वेष दूर करनेके लिए अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अनुकूलतानुसार चारित्र धारण करना चाहिये, और यह बात स्मरण रखना चाहिये, कि आचार्योंने जहाँ-तहाँ चारित्र धारणका मूल-उद्देश्य विषय-कषायों का घटाना बताया है अर्थात् जहाँ जिस प्रकारकी कषायके उत्पादक बाह्य हिंसादि पापों का त्याग बताया है वही उसीके साथ साथ उसी प्रकारकी कषायके उत्पादक और और कारणोंका भी त्याग कराया है। अतएव प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको बहिरङ्ग कारणों और अन्तरङ्ग कार्योंकी ओर पूरी पूरी दृष्टि देकर चारित्र धारण करना चाहिये, तभी इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है। अन्यथा केवल कुछ बाह्य कारणोंके छोड़ने और उसी प्रकारके अन्य बहुतसे कारणोंके न छोड़नेसे इष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

चारित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप साधुधर्म और विकल अर्थात् अणुव्रतरूप-गृहस्थधर्म दो प्रकारका होता है। यहाँ प्रथम गृहस्थधर्मका स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है, क्योंकि अल्पशक्तिके धारक पुरुषों को गृहस्थाश्रममें रहकर श्रावक-व्रतोंके यथाक्रम ठीक ठीक रीतिसे अभ्यास करनेसे मुनिव्रत धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।



द्वितीय भाग

अणुव्रतरूप गृहस्थ अथवा श्रावक धर्म

यद्यपि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोमे सामान्य रीतिसे छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेनेवाले जैनी-गृहस्थको भी कई जगह श्रावक कहा है तथापि चरणानुयोगकी पद्धतिसे यथार्थ में पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक तीनोंकी ही श्रावक संज्ञा है क्योंकि श्रावकके अष्ट मूलगुण धारण और सप्त व्यसनोका त्याग ही हीनाधिकरूपसे इन तीनोंमे पाया जाता है। सो ही सागारधर्माभूतादि ग्रन्थोमे स्पष्ट कहा है कि पच उदुम्बरादि-त्यागकर पचाणुव्रत धारण और तीन मकार का त्याग श्रावकके अष्ट मूलगुण तथा अहिंसादि १२ व्रत उत्तरगुण हैं। इन्हीं १२ व्रतोकी विशेष श्रावक की ५३ क्रियायें हैं, इन क्रियाओंको धारण एवं पालन करने के कारण ही श्रावकोको “त्रेपन क्रिया प्रति-पालक” विशेषण दिया जाता है। इन क्रियाओंकी शोधना ब्रमश प्रथमादि प्रतिमाओमे होती हुई पूर्णता ग्यारहवी प्रतिमामे होती है।

श्रावक की ५३ क्रियाएँ

गाथा

गुण-वय-तव-सम-पडिमा, दाणं-जलगालण च-अणत्थमिय ॥

दसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१॥

अर्थ—८ मूलगुण, १२-व्रत, १२ तप, १ समता (कषायो की मन्दता) ११ प्रतिमा, ४ दान, १ जलगालन, १ रात्रिभोजन त्याग १ दर्शन, १ ज्ञान, और १ चारित्र्य ये श्रावककी ५३ क्रियाएँ हैं।

अब पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक इन तीन प्रकारके श्रावकोका पृथक् पृथक् वर्णन किया जाता है।

पाक्षिक श्रावक

जिनको जैनधर्म के देव, गुरु, शास्त्रोंद्वारा आत्म-कल्याणका स्वरूप वा मार्ग भली भाँति ज्ञात तथा निश्चित हो जानेसे पवित्र जिन धर्मका तथा

श्रावकधर्म (अहिंसादि) का पक्ष हो जाता है, जिनके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनाये दिन-दिन वृद्धिरूप होती जाती हैं, जो स्थूल त्रसहिंसाके त्यागी है, ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि, पाक्षिक श्रावक कहलाते हैं। इन्हे व्रतादि प्रतिमाओंके धारण करनेके अभिनाषी होनेसे प्रारब्ध सज्ञा भी दी है। इनके सप्त व्यसनोका त्याग तथा अष्ट मूलगुणधारण, सातिचार होता है। ये जान बूझकर अतीचार नहीं लगाते, किन्तु वचाने का प्रयत्न करते हैं, तो भी अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विवश अतीचार लगते हैं।

पाक्षिक श्रावक आपत्ति आनेपर भी पच परमेष्ठीके सिवाय चक्रे-श्वरी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि किसी देवी-देवताकी पूजा वदना नहीं करता। रत्नकरन्दश्रावकाचारमे श्रीसमतभद्रस्वामीने भी सम्यग्दृष्टिको इनकी पूजन-वदनका स्पष्टरूपसे निषेध किया है।

नोट—जिनधर्मके भक्त देवोंको साधारण रीतिपर साधर्मी जान यथोचित आदर-सत्कारपूर्वक यज्ञ (प्रतिष्ठा) आदि कार्यों में उनके योग्य कार्यसंपादन करनेके लिए उनका सत्कार करनेसे सम्यक्त्वमे कोई हानि-वाधा नहीं आती।

अष्ट मूलगुण

कई ग्रन्थोंमें वड, पीपल, गूलर (ऊमर), कठूमर, पाकर इन पंच उदुम्बर फलोके (जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु तीन मकारोके (जो त्रस जीवोके कलेवरके पिंड हैं) त्याग करनेको अष्ट मूलगुण कहा है। रत्नकरन्दश्रावकाचारादि कई ग्रन्थोमे पचाणुव्रत धारण तथा तीन मकारके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है। महापुराणमे मधुकी जगह सप्तव्यसनके मूल जूआ खेलनेकी गणनाकी है। सागराधर्मा-मृतादि कई ग्रन्थोमे मद्य (शराव) मांस, मधु (शहद) इन तीन मकारके त्यागके ३, उपर्युक्त पच उदुम्बर फलोके त्यागका १, रात्रि भोजनके त्यागका १, नित्य देववदना करनेका १, जीवदया पालनेका १, जल छानकर पीनेका १, इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं। इन सब ऊपर कहे हुए अष्ट मूलगुणोपर जब सामान्यरूपसे विचार किया जाता है तो सभीका मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयताके त्याग कराने और धर्ममे लगानेका एक सरीखा ज्ञात होता है। अतएव सबसे पीछे कहे हुए त्रिकाल वंदना, जीवदया पालनादि अष्ट मूलगुणोमे इन अभिप्रायोकी भली साति सिद्धि होनेके कारण यहाँ उन्हीके अनुसार वर्णन किया जाता है।

१ मद्यपान त्याग—मद्य बनानेके लिए, दाख, छुहारे आदि पदार्थ कई दिनोतक सड़ाये जाते हैं पीछे यन्त्रद्वारा उनसे शराव उतारी जाती है, यह महा दुर्गन्धित होती है, इनके बननेमे असंख्यात-अनन्त, त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसा होती है। यह मद्य मनको मोहित करती है, जिससे धर्म-कर्मकी सुध-बुध नहीं रहती तथा पच पापोमे निग्नक प्रवृत्ति होती है, इसी कारण मद्य को पाँच पापो की जननी (माता) कहते हैं। मद्य पीनेसे मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रोके लाल होजाने आदि दोषोके सिवाय मानसिक एव शारीरिक शक्ति नष्ट होजाती है। शरावी बनहीन और अविश्वासका पात्र हो जाता है, उसका शरीर प्रतिदिन अशक्त हो जाता है, अनेक रोग आ घेरते हैं, आयु क्षीण होकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता हुआ मरता है। प्रत्यक्ष ही देखो। मद्यपी मद्य पीकर उन्मत्त हुआ माता, पुत्री, वहिन आदिकी सुवि भूलकर निर्लज्ज हुआ यद्वा तद्वा वर्तव्य करता है। इस प्रकार मद्यपी स्व-परको दुखदायी होता हुआ, जितने कुछ ससारमे दुष्कर्म करता है, उससे कोई भी व्यसन बचा नहीं रहता। ऐसी दशामें धर्मकी शुद्धि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असम्भव है। पीनेवाला इस लोकमें निन्द्य तथा दुखी रहता और मरनेपर नरकको प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। वहाँ उसे सडासियोसे मुंह फाड़ फाड़ कर गर्म ताँवा-सीसा पिलाया जाता है। इस प्रकार मद्य-पानको लोक परलोकको विगाडनेवाला जान दूरसे ही तजना योग्य है। चरस, चडू, अफीम, गाजा, तमाखू, कोकेन आदि नशीली चीजें खाना-पीना भी मदिरापानके समान धर्म-कर्म नष्ट करने वाली हैं, अतएव मद्यत्यागीको इनका त्यागना ही योग्य है।

२. मांस भक्षण त्याग—मांस त्रसजीवोके वधसे उत्पन्न होता है। इसके स्पर्ग, आकृति, नाम और दुर्गन्धिसे चित्तमे महा ग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवोके मूत्र, विष्टा एव सप्त धातु-उपधातुरूप महाअपवित्र पदार्थों का समूह है। मांसका पिंड चाहे सूखा हुआ हो, चाहे पका हुआ हो, उसमे हर हालतमे त्रसजीवोकी उत्पत्ति होती ही रहती है। मास-भक्षणके लोलुपी विचारे निरपराध, दीन-भूक पशुओका वध करते हैं। मास भक्षियोका स्वभाव निर्दय, कठोर, सर्वथा धर्म धारणके योग्य नहीं रहता है। मास-भक्षणके साथ साथ मदिरापानादि व्यसन भी लगते हैं। मासभक्षी इस लोकमे सामाजिक एव धर्मपद्धतिमे निन्द्य गिना जाता है, मरनेपर नरक के महान दुस्सह दुःख भोगता है। वहाँ लोहेके गर्म गोले, सडासियोसे मुंह फाड़ फाड़ कर खिलाये जाते तथा दूसरे दूसरे नारकी गृद्धादि मासभक्षी पशु

पक्षियोंका रूप धारण कर इसके शरीरको चोंटते और नाना प्रकारके दुःख देते हैं। अतएव मांस-भक्षणको अति निन्द्य, दुर्गति एवं दुःखोंका दाता जान सर्वथा त्यागना ही योग्य है।

३. मधु भक्षण त्याग—मधु अर्थात् शहदकी मक्खियां नाना प्रकारके फूलोंका रस चूस-चूस कर लाती हैं और उगलकर अपने छत्तेमें एकत्र करती हैं, वे वही रहती हैं, उसीमें सम्मूर्छन अडे उत्पन्न होते हैं, भील गौड आदि निर्दयी नीच जातिके मनुष्य उन छत्तोंको तोड़ मधु मक्खियोंको नष्ट कर उन अण्डों-बच्चोंको बची खुची मक्खियों समेत निचोड़ कर इस मधुको तैयार करते हैं। यथार्थ में यह त्रस जीवोंके कलेवर (मांस) का पुज अथवा सत् है। इसमें असख्यात त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। अन्य मतोंमें भी इसके भक्षण करनेका निषेध किया गया है। मधुभक्षणके पापसे नीचगति में गमन और नाना प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है अतएव इसे सर्वथा त्यागना योग्य है।

जिस प्रकार ये तीन 'मकार' अभक्ष्य एवं हिंसामय होनेसे त्यागने योग्य हैं उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, मदको उत्पन्न करने-वाला और घृणारूप है। तैयार होनेपर यद्यपि इसमें अतर्मुहूर्तके पीछे त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होना शास्त्रोंमें कहा है, तथापि विकृत होनेके कारण आचार्यों ने तीन मकारके समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है।

४. पच उदुम्बरफलभक्षण त्याग—जो वृक्षके काठको फोड़कर फले, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। (१) गूलर या ऊमर, (२) बट या बड़, (३) प्लक्ष या पाकर, (४) कठूमर या अजीर, (५) पिप्पल या पीपल। इन फलोंमें हिलते, चलते, उड़ते सैकड़ों जीव आँखोंसे दिखाई देते हैं। इनका भक्षण निषिद्ध, हिंसाका कारण और आत्मपरिणामको मलिन करनेवाला है। जिस प्रकार मांसभक्षीके दया नहीं, मदिरापायीके पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पच उदुम्बर फलके खानेवालेके अहिंसाधर्म नहीं होता, अतएव इनका भक्षण तजना योग्य है। इनके सिवाय जिन वृक्षोंसे दूध निकलता हो, ऐसे क्षीरवृक्षोंके फलोंका अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलोंका सूखी, गीली आदि सभी दशाओंमें भक्षण सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार सडा-घुना अनाज भी अभक्ष्य है, क्योंकि इसमें भी त्रसजीव होने से मांसभक्षणका दोष आता है।

५. रात्रिभोजनत्याग—दिनको भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिको भोजन करनेमें राग-भावकी उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिस प्रकार रात्रिको भोजन बनानेमें असख्यात जीवोंकी हिंसा होती है उसी प्रकार रात्रिको भक्षण करनेमें भी असख्यात जीवोंकी हिंसा होती है, इसी कारण शास्त्रोंमें रात्रिभोजियोंको निशाचरकी उपमा दी गई है। यहाँ कोई गका करे कि रात्रिको दीपकके प्रकाशमें भोजन किया जाय तो क्या दोष है ? उसका समाधान—दीपकके प्रकाशके कारण बहुतसे पतङ्गादि सूक्ष्म तथा बड़े बड़े कीड़े उड़कर आते और भोजनमें गिरते हैं। रात्रि भोजनमें अशोक (अनिवारित) महान् हिंसा होती है। रात्रि में अच्छी तरह न दिखनेसे हिंसा (पाप) के सिवाय गारीरिक नीरोगतामें भी बहुत हानि होती है। मक्खी खा जानेसे वमन हो जाता है, कीड़ी खा जानेसे पेशावमें जलन होती है, केग भक्षणसे स्वरका नाश होता है, जुआँ खा जानेसे जलोदर रोग होजाता है, मकड़ी भक्षणसे कोढ़ होजाता है और विषमरा आदि भक्षणसे तो आदमी मर तक जाता है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें रात्रिभोजन-प्रकरणमें स्पष्ट कहा है कि रात्रिमें जब देवकर्म, स्नान, दान, होमकर्म नहीं किये जाते हैं (वर्जित हैं) तो फिर भोजन करना कैसे सम्भव हो सकता है ? कदापि नहीं। वसुनन्दि-श्रावकाचारमें कहा है कि रात्रिभोजी किसी भी प्रतिमाका धारक नहीं हो सकता। इसी कारण यह रात्रिभोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्म-को दूषित करने वाला, नीचगतिको ले जाने वाला है ऐसा जानकर सर्वथा त्यागने योग्य है।

६ देव-वंदना—वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी श्री अरहत देवके साक्षात् वा प्रतिविम्ब रूपमें, सच्चे चित्तसे अपना पूर्व पुण्योदय समझ पुलकित—आनन्दित होते हुए दर्शन करने, गुणोंके चितवन करने, तथा उनको आदर्श मान अपने स्वभाव-विभावोंका चितवन करनेसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है। नित्य पूजन, दर्शन करनेसे सम्यक्त्वकी निर्मलता, धर्म की श्रद्धा, चित्तकी शुद्धता, धर्ममें प्रीति बढ़ती है। इस देववंदनाका अन्तिम फल मोक्ष है, अतएव मोक्षरूपी महानिधिको प्राप्त करानेवाली यह देववन्दना अर्थात् जिनदर्शनपूजादि प्रत्येक धर्मेच्छुक पुरुषको अपने कल्याणके निमित्तयोग्यतानुसार नित्य करना चाहिये। तथा शक्ति एव योग्यताके अनुसार पूजनकी सामग्री, एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घरसे लेजाना चाहिये।

किसी किसी ग्रन्थमें प्रातः, मध्याह्न और संध्या तीनों काल देव-वन्दना कही है सो सन्ध्यावन्दनसे कोई रात्रिपूजन न समझ ले, क्योंकि रात्रिपूजनका निषेध धर्मसंग्रह श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचारादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसाका कारण भी है इसलिये सन्ध्याके पूर्वकालमें यथाशक्य पूजन करना ही सन्ध्यावन्दन है। रात्रिको पूजनका आरम्भ करना अयोग्य और अहिंसामयी जिनधर्मके सर्वथा विरुद्ध है अतएव रात्रिको केवल दर्शन करना ही योग्य है।

यह बात भी विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि मन्दिरमें विनय-पूर्वक रहे, यद्वा-तद्वा उठना-बैठना बोलना-चालना आदि कार्य न करे।

७ जीवदया पालन—सदा सब प्राणी अपने-अपने प्राणों की रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार अपने प्राण अपनेको प्रिय हैं उसी प्रकार एकेन्द्रीसे लेकर पचेन्द्रीपर्यन्त सभी प्राणियों को अपने अपने प्राण प्रिय है। जिस प्रकार हम जरासा भी कष्ट नहीं सह सकते उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़ी, मक्खी, पशु, पक्षी, मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगनेकी इच्छा नहीं करते और न सह सकते हैं। अतएव सब जीवोंको अपने समान जान कर उनको जरा भी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुँचाओ, सदा उनपर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उनके पवित्र हृदयमें ही पवित्र धर्म ठहर सकता है, निर्दयी पुरुष धर्मके पात्र नहीं, उनके हृदयमें धर्मकी उत्पत्ति अथवा स्थिति कदापि नहीं हो सकती। ऐसा जानकर सदा सर्व जीवोंपर दया करना योग्य है। दयापालकके झूठ-चोरी कुशीलादि पच पापोंका त्याग सहज ही हो जाता है।

८ जलमालन अनछने जलकी एक बूंदमें असंख्यात छोटे छोटे त्रस जीव होते हैं। अतएव जीवदयाके पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यताके निमित्त जलको दोहरे छन्नेसे छानकर पीना योग्य है। छन्नेका कपड़ा स्वच्छ सफेद, साफ और गाढ़ा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला फटा तथा ओढ़ा-पहिना हुआ कपड़ा छन्नेके योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्ने में गुड़ी न रहे। छन्नेका प्रमाण सामान्य रीतिसे शास्त्रोंमें ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा कहा है, जो दुहरा करने से २४ अंगुल

१ पङ्त्रिंशदगुल वस्त्र चतुर्विंशतिविस्तृत।

तद्वस्त्र द्विगुणीकृत्य तोय तेन तु गालयेत् ॥ १ ॥ (पीयूषवर्षश्रावकाचार)

लम्बा १८ अंगुल चौड़ा होता है। यदि वर्तनका मुह अधिक चौड़ा हो, तो वर्तन के मुहसे तिगुना दुहरा छन्ना होना चाहिए। छन्नेमें रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थानमें क्षेपे, जिसका पानी भरा हो। तालाब, बावड़ी, नदी आदि जिसमें पानी भरनेवाला जल तक पहुँच सकता है, जीवाणी डालना सहज है। कुए में जीवाणी बहुधा ऊपरसे डाल दी जाती है सो या तो वह कुए में दीवाली पर गिर जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुँच जाय, तो उसमेंके जीव इतने ऊपरसे गिरनेके कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालनेका अभिप्राय "अहिंसा-धर्म" नहीं पलता। अतएव भवरकड़ीदार^१ लोटेसे कुए के जलमें जीवाणी पहुँचाना योग्य है।

पानी छानकर पीनेसे जीवदया पलनेके सिवाय शरीर भी नीरोगी रहता है। अनछना पानी पीनेसे बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरुआ आदि दुष्ट रोगोंकी उत्पत्ति होती है। इन उपर्युक्त हानि-लाभोंको विचार कर हर-एक बुद्धिमान पुरुषका कर्त्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीतिसे जल छानकर पीवे। छाननेके पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है। इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जानेसे वह जल फिर अनछने के समान होजाता है।

इन अष्ट मूलगुणोंमें देवदर्शन, जलछानन और रात्रि-भोजनत्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष जैनियोंके दया धर्मकी तथा धर्मात्मापन की पहिचान कर सकता है। अतएव आत्महितेच्छु-धर्मात्माओं को चाहिए कि जीवमात्रपर दया करते हुए प्रामाणिकतापूर्वक वर्ताव करके इस पवित्र धर्मकी सर्व जीवोंमें प्रवृत्ति करे।

मूर्तिपूजन—

वर्तमान में कितने ही मत ऐसे भी हैं जो मूर्तिपूजन का निषेध करते हैं। वे मूर्तिपूजन का अभिप्राय समझे बिना मूर्तिपूजकोंको वृत्तपरस्त अर्थात् पाषाणपूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना-सत्य माने बिना सासारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे

१ लोटेके पैदों में एक आँकड़ा लगवावे, आँकड़े में रस्सी फसाकर जीवाणी समेत सीधा लोटा कुए में डालने और पानी की सतहपर पहुँचते ही हिलाने में लोटा आँधा हो जाता और जीवाणी पानी में गिर जाती है। जीवाणी गिर चुकनेपर लोटा ऊपर खींच लेवे।

जिस पदार्थ के द्योतक याने मूर्तिस्वरूप हो, उसी पदार्थ का ज्ञान उन अक्षरों के देखने से होता और तदनुसार ही हर्ष-विषाद होता है। जैसे निन्दा या गाली के द्योतक अक्षरों को पढ़कर अप्रसन्नता और प्रशंसा रूप अक्षरों को पढ़कर चित्त में प्रसन्नता होती है अथवा फोटो की तस्वीर या पत्थर की स्त्री-पुरुष की सुन्दर मूर्ति देखकर मन प्रसन्न होता और कुरूप-डरावनी मूर्ति को देखने से भय और घृणा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार नक्शों के बिना केवल भूगोल की पुस्तक पढ़ने से यथार्थ ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार मूर्ति के बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्यों का समुचित रीति से बोध तथा उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके लिए इतना ही कहना बस होगा कि मूर्ति निषेधक लोग भी फोटो (तस्वीर) तथा स्मारक मूर्तियों के द्वारा असली पदार्थ का बोध करते हैं और तदनुसार ही बर्ताव करते हैं। अब विचारने की बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्ग के प्रकरण में मूर्ति किस की और किस आकार की होनी चाहिए और उसकी पूजन करने का अभिप्राय क्या होना चाहिए। इत्यादि बातों को भलीभाँति जाने बिना मूर्ति-पूजन से जो लाभ होना चाहिए, सो कदापि नहीं हो सकता, इसलिए इस विषय को भली-भाँति जानना जरूरी है। इसके लिए इतना कहना ही बस होगा कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से मूर्ति स्थापना एवं मूर्तिपूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यान में लाये जाए, तो कदाचित् भी कोई हमें वृत्तपरस्त नहीं कह सकता किन्तु पूर्ण तत्त्व ज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु कह सकता है।

मूर्तिपूजा के विषय में जैनियों के उद्देश्य और सिद्धान्त ये हैं कि जिन महात्माओं ने ससार अर्थात् जन्म-मरण की परिपाटी को बढाने वाले, रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले विषय-कषायों को त्याग दिया और परम वीतरागता (शांति) अंगीकार की, जिन्होंने अशुभ-शुभ दोनों प्रकार के कर्मों को संसार-बन्धन के लिए वेडी सदृश जान त्याग दिया, जिन्होंने एकाग्र ध्यान (समाधि) के बल से सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया और शुद्धात्म-रूप-परमात्मा हुए। ऐसे सर्वज्ञ, परमात्मा, कर्मशत्रु-विजेता वीरों की ध्यान-मुद्रा का सदा स्मरण होता रहे। उनके सद्गुणों के प्राप्त करने की सदा इच्छा उत्पन्न होती रहे, हम इसी अभिप्राय से उनकी तादृश (उन्हीं के समान) वीतरागतापूर्ण मूर्ति स्थापना करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि ऐसी मूर्ति के दर्शन द्वारा परमात्मा के गुण चितवन करना और उनके समान सद्गुणी बनने की इच्छा करना ही आत्मोन्नति का मूल साधन है।

यह बात भी ध्यान में लाने योग्य है कि हम मूर्ति के दर्शन, पूजन

करते हुए पाषाण, पीतल आदि की स्तुति नहीं करते, कि “हे पाषाण या पीतल की मूर्ति ! तू अमुक खान से निकाली जाकर अमुक कारीगर के द्वारा इतने मूल्य में अमुक जगह तैयार कराई जाकर हम लोगों के द्वारा स्थापित होकर पूज्य मानी गई है।” किन्तु ससारविरक्त मोक्षगामी परमात्मा की तदाकृति मूर्ति के आश्रय उसके सद्गुणों की स्तुति तथा पूजन करते और उसी के समान मोक्ष प्राप्त करने की भावना करते हैं। मोक्षमार्गी सच्चे वीरो की मूर्ति के दर्शन करके यह शिक्षा लेते हैं कि यह मुद्रा ध्यान करने की है। जब हम ससार, शरीर, भोगों से सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति सरीखे ध्यानारूढ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर शान्तिरस का आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। मन में वीतराग मूर्ति के देखने से इस प्रकार शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान की भावना उत्पन्न होती है कि मेरे आत्मा में जब तक राग द्वेष रूप मल लगा हुआ है तब तक ही ससार में भ्रमण करता नाना प्रकार दुखी होता हुआ जन्म-मरण कर रहा हूँ। जिस समय रागद्वेष विकार मुझसे दूर हो जाएगा, उस समय मैं अपने स्वरूप में ऐसा निश्चल लीन हो जाऊँगा, जैसी कि यह पाषाण की वीतराग मूर्ति ध्यानस्थ है।

मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्गासन किन्तु, स्त्री-वस्त्र-शस्त्र-आभूषण आदि परिग्रह रहित नासाग्रदृष्टि, पूर्ण वैराग्य सूचक नग्न दिगम्बर ध्यानारूढ होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ऐसी शान्त अवस्था धारण करना बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं।

यहाँ कोई कहे कि वीतराग सर्वज्ञ की मूर्ति के नित्य अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करने की क्या आवश्यकता है? उसका समाधान — इसका विज्ञान बहुत विज्ञता से भरा हुआ है। मूर्ति के प्रक्षाल करने का अंतरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ-मुद्रा के अति निकटवर्ती होने से उसकी वीतरागता पूर्णरूप से दरशनी है। उसके स्पर्श करने से चित आह्लादित होता है मानो साक्षात् अर्हंतदेव का ही स्पर्शन किया और चरणोदक लगाने से मस्तक तथा सम्पूर्ण शरीर पवित्र होकर मन में साक्षात् तीर्थकर भगवान् के अभिषेक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। प्रक्षाल करने का बाह्य कारण ये भी है कि मूर्ति पर कूड़ा, कचरा, जाला, मैल, दाग न लगने पावे क्योंकि आच्छादन होने से मूर्ति की वीतरागता विगडती और स्पष्ट-दर्शन में बाधा आती है।

गृहस्थों को गृह-सम्बन्धी जजालों के कारण अनेक सकल्प विकल्प

उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे एकाएक आत्मध्यान में उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इसलिए उन्हें सांसारिक अशुभ आलंवनो के त्यागने और पारमार्थिक शुभ आलंवनो में लगने की बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव गृहस्थ को जिन-पूजा से बढ़कर दूसरा कोई प्रबल धार्मिक अवलम्बन नहीं है। इसी कारण शास्त्रो में गृहस्थ को धार्मिक षट्कर्मों के आरम्भ में ही देवपूजन करने का उपदेश है। पूजन करने से पूजन के द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ-मन्त्रादि बोलने, पूज्य परमेष्ठी के गुणों के चिंतवन करने में जितने समय तक चित्त लगा रहता है उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते, सांसारिक विषयकषाय की ओर चित्त नहीं जाने पाता जिससे महान् पुण्यवध और पाप की हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियो का जीतना) और तप (इच्छा का निरोध) होता है। जिससे आत्मीक शक्तियाँ सबल और निर्मल होती हैं।

अष्टद्रव्य (जल, मुग्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल) से पूजन करने की आज्ञा है। इनको परमात्मा या गुरु के सन्मुख चढ़ाने का अभिप्राय, पूजको के सांसारिक तापो के दूर करने की इच्छा है। इसी हेतु से ये अष्टद्रव्य पृथक्-पृथक् मंत्रों द्वारा परमात्मा के सन्मुख क्षेपण किये जाते हैं और भावना की जाती है कि “इन जल, मुग्ध, अक्षतादि द्रव्यों को हमने अनादिकाल से सेवन किया परन्तु हमारे तृषा, क्षुधादि सांसारिक ताप दूर नहीं हुए। अतएव हे प्रभु! ये द्रव्य आपके सन्मुख क्षेपण कर चाहते हैं कि आपकी तरह हम भी क्षुधा, तृषा, मोह, अज्ञानादि दोषों से रहित होकर आप सरीखी निर्दोष और उत्कृष्ट दगा को प्राप्त होंगे”।

यहाँ कोई आशंका करे कि भगवान् अरहत तो आयु पूर्णकर लोक के अग्र भाग मोक्ष स्थान में जा विराजे है, धातु-पापाण के स्थापनरूप प्रति-विम्ब में आते नहीं, अपना पूजन-स्तवन चाहते नहीं, अपने अनत ज्ञान, अनत सुख में लीन तिष्ठते हैं, किसी का उपकार, अपकार करते नहीं, पूजन-स्तवनादि करनेवाले से राग और निन्दा करने वाले से द्वेष करते नहीं। अपना पूजन स्तवन तो मान कषाय से सतापित, अपनी बड़ाई का इच्छुक, स्तवन करने से सतुष्ट होनेवाला, ऐसा ससारी (रागी-द्वेषी) होय सो चाहे। तो फिर किस प्रयोजन से उनकी पूजन की जाती है? उसका समाधान—जो भगवान् वीतराग तो पूजन स्तवन चाहते नहीं परन्तु गृहस्थ का परिणाम शुद्ध-आत्मस्वरूप की भावना में तो लगता नहीं, साम्यभावरूप रहता नहीं, निरालव ठहरता नहीं, इसलिए परमात्म-भावना

का अवलम्बन कर वीतराग स्वरूप के धातु, पापाणमय प्रतिविम्ब मे सकल्प कर परमात्मा का ध्यान, स्तवन-पूजन किया जाता है। उस समय कपायादि सकल्प के अभाव से, दुर्ध्यान के छूटने से, परिणामो की विशुद्धता के प्रभाव से देव, मनुष्य, तिर्यच तीन शुभ आयु विना शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है तथा पुण्यरूप कर्म प्रकृतियों मे रस बढ जाता, और पाप प्रकृतियों का रस सूख जाता है। पापकर्म का नाश होकर सातिशय पुण्य कर्म का उपार्जन होता है।

पूजन मे जो जल, चन्दन, अक्षतादि चढाया जाता है सो भगवान् भक्षण करते नही, पूजा किये विना अपूज्य रहते नही, वासना लेते नही। जैसे राजा को भेट, नजर, निछरावल करके आनन्द मनाते हैं उसी प्रकार भगवान् अरहत के सन्मुख (अग्रभाग मे) हर्षपूर्वक अष्ट द्रव्यों का अर्घ चढाया जाता है।

पूजन के योग्य नव देव हैं . १ अरहत २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ सर्वसाधु ६ जिनवाणी ७ जिनधर्म ८ जिन प्रतिमा ९ जिनमन्दिर। सो अरहत प्रतिविम्ब मे ही ये नव देव गभित हो जाते हैं क्योंकि आचार्य, उपाध्याय, साधु तो अरहत ही की पूर्व अवस्था है और सिद्ध होते हैं सो अर्हन्त पूर्वक ही होते हैं। अरहत की वाणी सो जिनवचन, और वाणी द्वारा प्रगट हुआ जो वस्तु स्वरूप सो जिनधर्म है। अर्हन्तका विम्ब सो जिन-प्रतिमा और वह जहाँ तिष्ठे, सो जिनालय है। इस प्रकार नव देव गभित जिनविम्ब तथा उसके ऋषभादि नाम, सम्मेदशिखरादि क्षेत्र, पच कल्याणादि काल और रत्नत्रय, दशलक्षणधर्म, षोडशकारणादि भाव (गुण) नित्य ही पूजने योग्य हैं। पवित्र जल को झारी मे धारण करे अर्हन्त प्रति-विम्ब के अग्रभाग मे ऐसा ध्यान करे कि 'हे जन्म-जरा-मरण को जीतने वाले जिनेन्द्र, मैं जन्म, जरा, मरणरूप त्रिदोष के नाशार्थ, आपके चरणा-रविन्दकी अग्रभूमि मे जल की तीन धारा क्षेपण करूँ हूँ, आपका चरण-शरण ही इन दोषो के नाश होने का कारण है।' इत्यादि आठो द्रव्यों के चढाने के पद बोलकर भावसहित भगवान् के अग्रभाग मे द्रव्य चढावे। इस प्रकार देश-काल की योग्यतानुसार पवित्र निर्जन्तु एकादि अष्ट द्रव्य से पूजन करे, परिणामो को परमेष्ठी के ध्यान मे युक्त करे, स्तवन पढे, नमस्कार करे।

परमात्मा मे भूख, तृष्णा, सोने, जागने आदि दोषो की कल्पनाकर उनकी निवृत्ति के लिए जल चन्दनादि से पूजन करना अभिप्राय जैनियों का नही है। क्योंकि परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के न तो ये उपाधियाँ ही हैं,

न इनका उपचार है। पूजा केवल पारमार्थिक सिद्धि के लिए ही है। उसके पूर्ण अभिप्राय पूजा के प्रत्येक पद के पढ़ने से भलीभाँति भूलकते हैं, जो अलौकिक और सच्चे सुख के साधक हैं।

यहाँ कोई सन्देह करे कि जब आपका उद्देश्य “अहिंसा धर्म” है और पूजन आरम्भ करने में थोड़ी या बहुत हिंसा होती ही है, तो फिर पूजन के आरम्भ का उपदेश क्यों? उसका समाधान—आरम्भयुक्त द्रव्यपूजन आदि शुभ कार्य गृहस्थ करते हैं। आरम्भ-त्यागी मुनि कदापि नहीं करते। तो भी “बस हिंसा को त्याग वृथा थावर न सहारे” के अनुसार पूजादि सम्पूर्ण क्रियाओं में गृहस्थों को अति यत्नाचार सहित प्रवर्तने की आज्ञा है जिससे बुद्धिपूर्वक पाप अल्प भी न हो और पुण्य विशेष हो। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ शुद्धोपयोग को ही इष्ट समझता है, तथापि गृहस्थपन में अशुभ त्याग शुभ में प्रवृत्ति होना ही सम्भव है।

जो द्रव्य ममत्वरहित होकर उन महात्माओं के सन्मुख क्षेपण किया जाता है वह अति निर्मल है इसलिए उसे “निर्मल्यद्रव्य” कहते हैं। उस द्रव्य पर चढ़ानेवाले का कुछ भी अधिकार या स्वामित्व स्वतः लेने या किसी को देने का नहीं रहता, इसलिए उसको चाहे सो ले जावे, परन्तु अपने तर्ह किसी भी रीति से अपनाना अत्यन्त अयोग्य और पापजनक है। ऐसा करने से इसी भव में कुष्ठादि रोग, दारिद्र्य आदि दुःख प्राप्त होते और भविष्य के लिए तीव्र पाप का बध होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भगवान् के सन्मुख चढ़ाये हुए द्रव्य को ग्रहण करने से महापाप क्यों होता है? उसका उत्तर भगवान् को चढ़ाया हुआ द्रव्य यद्यपि महापवित्र, मस्तक पर चढ़ाने योग्य है तथापि अपनाने योग्य नहीं है क्योंकि निर्ममत्व होकर (त्याग करके) महात्माओं के सन्मुख अर्पण किया है इसलिए अग्राह्य के अधिकारी बनना महापाप का कार्य है।

सप्तव्यसन दोष

अन्यायरूप कार्यको बार-बार सेवन किये बिना चैन नहीं पड़े, ऐसा शौक पड़ जाना व्यसन कहलाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़े-कष्ट) का है इसलिए जो महान् दुःखको उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे सो व्यसन है (मूलाचार)। पुनः जिसके होनेपर उचित अनुचितके विचारसे रहित प्रवृत्ति हो (स्याद्वादमजरी) वह व्यसन कहलाता है।

प्रगट रहे कि जूआ खेलना, माँसभक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या-

सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीसेवन, ये सात अति अन्यायरूप और लुभावने कार्य हैं कि एकवार सेवन करनेसे इनमें अति आसक्तिता हो जाती है जिससे इनके सेवन किये बिना चैन (जक) नहीं पड़ती, रात-दिन इन्हीं में चित्त रहता है। इनमें उलझना तो सहज पर सुलभना महा कठिन है इसी कारण इनकी शास्त्रोमे व्यसन सजा है। यद्यपि चोरी, परस्त्रीसेवनको पच पापोमे भी कहा है तथापि जहाँ इन पापोंके करनेकी ऐसी टेव पड़ जाय कि राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दा होने पर भी न छोड़े जावे सो व्यसन है और जहाँ कोई कारण विशेषसे किंचित् लोकनिन्द वा गृहस्थधर्म-विरुद्ध ये कार्य बन जाय सो पाप है।

यद्यपि इन व्यसनो का नियमपूर्वक त्याग सम्यक्त्व होनेपर पाक्षिक अवस्थामे होता है, तथापि ये इतने हानिकारक, ग्लानिरूप और दुखदाई हैं कि इन्हे उच्चजातीय सामान्य गृहस्थ भी कभी सेवन नहीं करते। इनमें लवलीन (आसक्त) पुरुषोंको सम्यक्त्व होना तो दूर रहा, किन्तु धर्मरुचि, धर्मकी निकटता भी होना दुस्साध्य है। ये सप्त व्यसन वर्तमान मे नष्ट-भ्रष्ट करने वाले और अन्तमें सप्त नरको मे ले जाने वाले दूत हैं। इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

१ जुआ खेलना—जिसमे हार जीत हो, ऐसे चौपड़, गंजफा, मूठ, नक्की आदि खेलना, जुआ है। यह जुआ सप्त व्यसनोका मूल और सर्व पापोंका स्थान है। जिनके धनकी अधिक तृष्णा है, वे जुआ खेलते हैं। जुआरी, नीच जातिके लोगोंके साथ-भी राज्यके भयसे छिपकर मलिन और गून्य स्थानोंमें जुआ खेलते हैं। अपने विश्वासपात्र मित्र-भाई आदिसे भी कपट करते हैं। हार जीत दोनों दशाओंमे ही (चाहे धन सम्बन्धी हो, चाहे बिना धन सम्बन्धी) जुआरीके अति व्याकुल परिणाम रहते हैं। उन्हे रात-दिन इसीकी मूर्च्छा रहती है। ऐसे लोगोंसे न्यायपूर्वक अन्य कोई रोज़-गार धंधा हो नहीं सकता। जीतनेपर मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यासेवनादि निन्द्यकर्म करते और हारनेपर चोरी, छल, भूठ आदिका प्रयोग करते हैं। जुआ खेलनेवालोंसे कोई दुष्कर्म वचा नहीं रहता। इसी कारण जुएको सप्त व्यसनका राजा कहा है। सट्टे (फाटके) का घधा, होड लगाकर चौपड़, गतरज आदि खेलना यह सब जुएका ही परिवार है। जुआरी पुत्र-पुत्री, स्त्री, हाट, महल, दुकान आदि पदार्थोंको भी जुएपर लगाकर घडी भरमे दरिद्री, नष्ट-भ्रष्ट बन बैठता है। इसके खेलमानसे पांडवोंने जो दुख उठाया सो जगत् में प्रसिद्ध है।

२. माँसखाना—

३ मद्यपान करना—

इनका वर्णन तीन मकार मे हो चुका है ।

४ वेश्यासेवन—जिस अविवेकिनी नारीने पैसेके अति लालचसे वेश्यावृत्ति अ गीकार कर अपने शरीरको, अपनी इज्जतआवरूको, अपने पतिव्रत धर्म को नीच लोगोके हाथ बेच दिया, ऐसी वेश्याका सेवन महानिन्द्य है । यह पैसेकी स्त्री है, इसके पतियो की गिनती नही होती, यह सब दुर्गुणोकी गुरानी है । माँस-मदिरा-जुआ आदि सब प्रकारके दुर्व्यसनोमे फसाकर अपने भक्तोको कष्ट-आपदा रोगोका घर बनाकर अन्तमे निर्धनदरिद्रीकी अवस्थामे मृतप्राय करके छोडती है । इसके सेवन करनेवाले महानीच, घिनावने, स्पर्श करने योग्य नही । जिनको वेश्यासेवनकी ऐसी लत पड जाती है वे जाति, पाँति और धर्म-कर्मकी बात तो दूर मरण भी स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु इस व्यसनको छोडना स्वीकार नही कर सकते । जो लोग अज्ञानतावश वेश्याव्यसनमे फस जाते है, उनकी गृहस्थी-धन-इज्जत-आवरू-धर्म-कर्म सब नष्ट हो जाते हैं और वे परलोक मे कुगतिको प्राप्त होते हैं ।

५ शिकार खेलना—बेचारे निरपराधी, भयभीत, जगलवासी पशु, पक्षियो-को अपना शौक पूरा करनेके लिए या कौतुक-निमित्त मारना महा अन्याय और निर्दयता है । गरीब, दीन, हीन और अनाथोकी रक्षा करना बलवानो का कर्त्तव्य है । जो प्रजाकी व निस्सहाय जीवोकी घात व कण्टसे रक्षा करे वह सच्चा राजा तथा क्षत्रिय है । यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय तो दीन, अनाथ जीव किससे फर्याद करे । ऐसा जानकर-बलवानो को अपने बलका प्रयोग ऐसे निन्द्य, निर्दय और दुष्ट कार्यों मे करना सर्वथा-अनुचित है । इस शिकार दुर्व्यसन की ऐसी खोटी लत है कि एक बार इसका चसका पड जाने से फिर वही दिखाई देता है । हर समय इस व्यसनमे प्राण जानेका सकट उपस्थित रहता है । जो लोग इस व्यसनको सेवन कर वीर बनना चाहते हैं वे वीर नही, किन्तु धर्महीन अविवेकी और कायर हैं । वे इस लोकमे निन्द्य गिने जाते है और परलोकमे कुगतिको प्राप्त होते हैं ।

६ चोरी करना—भूली-बिसरी-रक्खी हुई पराई वस्तुको उसके स्वामीके आज्ञा बिना ले लेना, सो चोरी है । चोरी करनेमे श्वासक्त हो जाना, चोरी व्यसन कहलाता है । जिनको चोरीका व्यसन पड जाता है

वे धन पास होते हुए, महाकष्ट और आपदा आते हुए भी चोरी करते हैं। ऐसे पुरुष राजदण्ड, जातिदण्डका दुःख भोग निन्दा एव कुगति के पात्र बनते हैं। चोरी करनेसे शिवभूति पुरोहित कष्ट-आपदा भोग, कुगति को प्राप्त हुआ।

७ परस्त्री-सेवन देव, गुरु धर्म और पचोकी साक्षी-पूर्वक पाणिग्रहण की हुई स्वस्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रीसे संयोग (सभोग) करने में आसक्त हो जाना सो परस्त्री-सेवन व्यसन है। परस्त्रीसेवी धर्म-धन यौवनादि उत्तम पदार्थोंको गमा देते हैं, राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दा को प्राप्त हो, नरक-में जाकर लोहेकी तप्त पुतलियों से भिटाये जाते हैं। जैसे जूँठनखाकर कूकर काग प्रसन्न होते हैं वैसेही पर-स्त्री लपटीकी दशा जानो।

ये सप्त व्यसन ससार परिभ्रमणके कारण, रोग-क्लेश, वध-वधनादिके करानेवाले, पापके बीज और मोक्षमार्गमें विघ्न करने वाले हैं। सर्व अवगुणोंके मूल, अन्यायकी मूर्ति तथा लोक-परलोकको विगाड़नेवाले हैं। जो सप्तव्यसनोमें रत होता है उसके विशुद्धि लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामोंका होना भी सम्भव नहीं, क्योंकि उसके परिणामोमें अन्यायसे अरुचि नहीं होती। ऐसी दशामें शुभ कार्योंसे तथा धर्म से रुचि कैसे हो सकती है? इसलिए प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन सप्त व्यसनो को सर्वथा तजकर शुभ कार्योंमें रुचि करते हुए नियमपूर्वक सम्यक् श्रद्धानी वनना चाहिए और गृहस्थधर्मके उपर्युक्त अष्ट मूलगुणोंको धारण करना चाहिए।

पाक्षिकश्रावक के विशेष कर्तव्य

(१) कुलानुसार आचार अर्थात् अपने उच्चकुल-उच्च-जाति-उच्च-धर्मकी पद्धतिके अनुसार रहन-सहन-पहिनाव-उढाव आदि करना और खान-पान शुद्ध रखना। (२) पचाणुव्रत पालन करनेका अभ्यास करना^१। (३) शास्त्राभ्यास करना। (४) गृहस्थोंके करने योग्य गृहस्थी सम्बन्धी पट्कर्म अर्थात् चक्की, ऊखली, चूला, बुहारी, जल तथा आजीविकाके कार्योंमें यत्नाचार तथा न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना और नित्यप्रति धर्मसम्बन्धी पट्कर्म जिनपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, सयम, दान और तपमें शुभ परिणामोंकी प्राप्ति-निमित्त प्रवृत्ति करना। (५) जिस ग्राममें जिनमन्दिर न हो वहाँ न

१. इसमें कई बातें ब्रती श्रावक सरीखी मालूम होती हैं, उन्हें यहाँ अभ्यास रूप समझना चाहिए।

रहना । सागारधर्मा० अध्याय २ श्लोक ५ “प्रतिष्ठा यात्रादि” । (६) जिनधर्मियोका उपकार करना, जिनधर्मकी उन्नतिके निमित्त उत्कृष्ट श्रावक तथा मुनि उत्पन्न हो, इसलिए हर प्रकारसे साधर्मियोकी सहायता करनेका प्रयत्न करना । (७) चार प्रकार दान देना । (८) भोगोपभोगका यथा-शक्ति नियम करना । (९) यथाशक्ति तप करना । (१०) सकल्पी हिंसा न करना अर्थात् सिंह, सर्प, बिच्छू आदि किसी भी प्राणीको सकल्प करके न मारना । (११) सम्यक्त्वकी शुद्धताके लिये तीर्थ यात्रा करना, मन्दिर बनवाना, जैनपाठशाला स्थापित करना ।

जैनगृहस्थकी नित्य चर्या

जैनी-गृहस्थ सामान्य रीतिसे पाक्षिक वृत्तिके धारक होते हैं, अतएव जैनी गृहस्थकी नित्यचर्या इस प्रकार होनी चाहिए—

(१) वह एक घटा रात्रि अवशिष्ट रहे तब उठकर पवित्र हो आत्मचितवन (सामायिक) करे । (२) सबेरे शौच-स्नानादिसे निपटकर अपनी योग्यतानुसार शुद्ध-पवित्र द्रव्य लेकर जिनमन्दिर जावे, दर्शन-पूजनादि धार्मिक षट्कर्मोंमें यथाशक्ति प्रवर्ते । (३) धर्म-कर्मसे निपटनेके पीछे शुद्ध भोजन करे । (४) भोजनकी पवित्रता रखे—शूद्रको छोड़ शेष ३ वर्णोंके (मद्य-मांस-भक्षीको छोड़) हाथसे भरा अच्छी तरह दुहरे छन्ने से छना हुआ पानी, मर्यादित आटा, चर्मस्पर्शरहित घी, ताजा छना और प्राशुक किया हुआ दूध, ताजा मसाला, रसोईमें चंदोवा, अवीधा दाल-चावलादि अन्न ग्रहण करे, कन्द-मूलादि अभक्ष्य पदार्थोंको छोड़े । (५) चार बजे तक आजीविका सम्बन्धी कार्य अपनी योग्यतानुसार करे, पश्चात् दुबारा भोजन करना हो तो करे । (६) पाँच बजे जलपानादिसे निपटकर आध घंटे जीवजन्तुकी रक्षा करते हुए टहले । (७) सध्या समय पुनः आत्मचितवन (सामायिक) करे, शास्त्रसभामें जाकर शास्त्र पढ़े या सुने । (८) समय वचे तो उपयोगीपुस्तकें, समाचारपत्र आदि पढ़े वा वार्तालाप करे और दस बजे रात्रिको सो जावे, इस प्रकार आहार-विहार, शयनादि तथा धर्मकार्योंको नियम-पूर्वक करता रहे ।

गृहस्थके सत्रह यम

कुगुरु कुदेव कुवृष की सेवाऽनर्थदण्ड अधमय व्यापार ।
 द्यूत मांस मधु वेश्या चोरी परतिय हिंसादान शिकार ॥
 त्रसकी हिंसा थूलअसत्यरु विनछन्त्यो जल निशिआहार ।
 ये सत्रह अनर्थ जगमाही यावज्जिअो करो पग्गहार ॥१॥

नैष्ठिकश्रावक वर्णन

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावककी क्रियाओं का साधन करके शास्त्रोंके अध्ययनद्वारा, तत्त्वोंका विशेष विवेचन करता हुआ पचाणुव्रतोंका आरम्भ कर, अभ्यास बढ़ाने अर्थात् देशचारित्र धारण करनेमें तत्पर हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। अथवा जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और उत्तम क्षमादि दश-लक्षण-धर्म-पालन करनेकी निष्ठा (श्रद्धा) युक्त पचम गुणस्थानवर्ती हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है।

नैष्ठिक श्रावकके अप्रत्याख्यानवरण कपायोका उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानवरण कपायोके क्षयोपशम (मद उदय) के क्रमशः बढ़नेसे ग्यारहवीं प्रतिमा तक बारह व्रत पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं, इसी कारण श्रावकको सागार (अणुव्रती) कहा है। ये श्रावककी ११ प्रतिमाएँ (पाप-त्यागकी प्रतिज्ञाएँ) ही अणुव्रतोंको महाव्रतोंकी अवस्थातक पहुँचाने वाली निसैनीकी पक्तियोंके समान हैं जो अणुव्रतसे महाव्रतरूप महलपर ले जाती हैं। इनको धारण करनेका पात्र यथार्थमें वही पुरुष है जो मुनिव्रत (महा-व्रत) धारण करनेका अभिलाषी हो।

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जितने त्याग (व्रत) के योग्य अपने शरीरकी शक्ति, वासस्थान या भ्रमणक्षेत्र, कालकी योग्यता, परिणामोंका उत्साह हो और जिससे धर्म ध्यानमें उत्साह व वृद्धि होती रहे, उतनी ही प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये। पुनः हरएक प्रतिज्ञाको विवेकपूर्वक इस रीतिसे लेना चाहिये कि जिससे कोई प्रतिज्ञा क्रमविरुद्ध न होने पावे। कोई प्रतिज्ञा ऊँची प्रतिमाकी और कोई नीची प्रतिमाकी लेना क्रमविरुद्ध कहलाता है। जैसे ब्रह्मचर्य या आरभत्याग प्रतिमाके नियम पालते हुए पीछी-कमडलु धारण कर ऊपरसे छुल्लक-ऐलक सरीखा भेष बना लेना, या व्रत, सामा-यिक प्रतिमा अच्छी तरह पालन न करते हुए रसोई बनाने या रोजगार-घघ्रा आदि करनेका त्याग कर बैठना। ऐसी अनमेल प्रतिज्ञाएँ बहुधा अज्ञानतापूर्वक क्रोध, माया, लोभादि कपायोके वश होती हैं। जिसका फल यही होता है कि लाभ के बदले उलटी हानि होती है अर्थात् कपाय मंद होनेके बदले तीव्र होकर लौकिक हानि होनेके साथ-साथ मोक्ष-मार्गसे दूर-वर्तित्व अथवा प्रतिकूलता हो जाती है। अतएव इन प्रतिज्ञाओंके स्वरूप तथा इनके द्वारा होने वाले लौकिक-पारलौकिक लाभोंको भली भाँति जान-कर पीछे जितना सघता दिखे और विषय कपाय मन्द होते दिखे, उतना ही

व्रत-नियम धारण करना कल्याणकारी है, क्योंकि प्रतिमाका स्वरूप आचार्यों ने इस प्रकार कहा है —

दोहा

सयम अश जगौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम ।

उदय प्रतिज्ञा कौ भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥१॥

जब सयम धारण करनेका भाव उत्पन्न हो, विषय-भोगोंसे अतरगमे उदासीनता उत्पन्न हो, तब जो त्यागकी प्रतिज्ञाकी जाय वह प्रतिज्ञा 'प्रतिमा' कहलाती है। वे प्रतिमाये ११ हैं—१ दर्शनप्रतिमा २ व्रतप्रतिमा ३ सामायिकप्रतिमा ४ प्रोषधप्रतिमा ५ सचित्तत्यागप्रतिमा ६ रात्रिभोजन-त्यागप्रतिमा ७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा ८ आरम्भत्यागप्रतिमा ९ परिग्रहत्याग-प्रतिमा १० अनुमत्तित्यागप्रतिमा ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा ।

जिस प्रतिमामे जिस व्रतके पालन या पापत्यागकी प्रतिज्ञा की जाती है, वह यथावत् पालने तथा अतीचार न लगानेसे ही प्रतिमा कहला सकती है। जो किसी प्रतिमामे अतीचार लगता हो तो नीचे की प्रतिमा जानना चाहिये जो निरतिचार पल रही हो। यदि नीचे की प्रतिमाओंका चारित्र बिल्कुल पालन न कर या अधूरा ही रखकर ऊपरकी प्रतिमाका चारित्र धारण कर लिया जाय, तो वह जिनमतसे वाह्य, कौतुक मात्र है, उससे कुछ भी फल नहीं होता, क्योंकि नीचेसे क्रमपूर्वक यथावत् साधन करते हुए ऊपर को चढ़ते जानेसे ही—क्रमपूर्वक चारित्र बढ़ाने से ही—विषय-कषाय मन्द होनेसे आत्मिक सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है, जो कि प्रतिज्ञाओंके धारण करनेका मुख्य उद्देश्य है।

इन ग्यारह प्रतिमाओंमे छठी तक जघन्य श्रावक (गृहस्थ), नववी तक मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) और दशवी, ग्यारहवींवाले उत्कृष्ट श्रावक (भिक्षुक) कहलाते हैं।

अब इन प्रतिमाओंका स्वरूप स्पष्ट, विस्तृत रीत्या वर्णन किया जाता है—

प्रथम दर्शनप्रतिज्ञा

यह दर्शन प्रतिमा देशव्रत [श्रावकधर्म] का मूल है। त्रसजीवोंके घातद्वारा निष्पन्न हुए अथवा त्रसजीवों से युक्त पदार्थोंको भक्षण करनेका अतीचार सहित त्याग करनेवाला दार्शनिक श्रावक है अथवा दर्शन कहिये

धर्म या सम्यक्त्व तथा प्रतिमा कहिये, मूर्ति अर्थात् जो धर्म या सम्यक्त्वकी मूर्ति हो, जिसके बाह्य आचरणसे ही ज्ञात हो कि यह पवित्र जिनधर्मका श्रद्धानी है वह दार्शनिक है। वह नियमपूर्वक अन्याय-अभक्ष्योका अतीचार-सहित त्यागी होता है। सो भी इनको शास्त्रोमे त्यागने योग्य कहा है, ऐसा जानकर नहीं त्यागता, किन्तु यह तीव्र कपायरूप महापाप के कारण हैं एव अत्यन्त अनर्थरूप हैं ऐसा जान हर्षपूर्वक त्यागता है। इस भाँतिसे त्याग करनेवाला ही व्रतादि प्रतिमा धारण करनेका पात्र या अधिकारी होता है। अथवा जिसने पाक्षिक श्रावक-सम्बन्धी आचारादि द्वारा सम्यग्दर्शनको शुद्ध कर लिया है, जो ससार, गरीर और भोगोंसे चित्तमे विरक्त है, नित्य यथाशक्य अर्हंत भगवान्की पूजादि पट्कर्म करनेवाला है, मूलगुणोंके अतीचार दोषोंका सर्वथा अभाव करके आगे की प्रतिमाओंको धारण करनेका इच्छुक तथा न्यायपूर्वक आजीविकाका करनेवाला है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब ११ प्रतिमाएँ देशव्रतके भेद हैं तो प्रथम भेदका नाम दर्शनप्रतिमा होते हुए (जिसमे निरतिचार केवल सम्यग्दर्शन ही होता है) देशव्रतमे इसे क्यों कहा ? उसका समाधान—इस प्रतिमामे सप्त व्यसनके त्याग और अष्ट मूलगुणके धारणसे स्थूल^१ पंचाणु-व्रत होते हैं, इसीलिये इसे देशव्रतमे कहना योग्य ही है। व्रतके सातिचार

१. अष्टमूलगुण के धारण और सप्त व्यसन के निरतिचार पालनेसे दार्शनिक श्रावकके सातिचार पंचाणुव्रतों का पालन होता है अर्थात् ५ उदुम्बर ३ मकार—मद्य, मांस, मधु और शिकारके त्याग से ग्रहिमाणुव्रत, जुएके त्यागसे सत्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत (अतिनृणाका त्याग), चोरी के त्यागसे अचौर्याणुव्रत, वैश्या और परस्त्रीके त्यागसे ब्रह्मचर्य अणुव्रत होता है।

व्रतों के आचरण मे शिथिलता होना अतीचार है, यथा—

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।

तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यानाचारमिह व्रतानाम् ॥ १ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धतामे हानि होना सो अतिक्रम, विषयोंकी अभिलाषा होना सो व्यतिक्रम, व्रतके आचरणमे शिथिलता होना सो अतिचार, सर्वथा व्रतका भंग होना सो अनाचार है। सागारधर्मामृतमे व्रतके एक देश अर्थात् अंतरंग या बाह्य किसी एक प्रकार के अभाव होने को अतीचार कहा है।

श्रीमूलाचारजोंकी टीका में विषयाभिलाषा अतिक्रम, विषयोपकरणका उपाजन करना व्यतिक्रम, व्रतमे शिथिलता, किंचित असयम सेवन अतीचार, व्रतका भंग

होनेसे व्रतप्रतिमा नाम हो नहीं सकता; यहाँ तो केवल श्रद्धान निरतिचार होता है। इसी कारण इसका नाम दर्शनप्रतिमा कहा है, क्योंकि प्रतिमा यथावत् होनेको कहते हैं।

पाक्षिक अवस्थामे अष्ट मूलगुण धारण और सप्तव्यसन त्यागमें जो अतीचार लगते थे, उन अतीचारोके दूर होनेसे मूलगुण विशुद्ध हो जाते हैं। ये अमुक-अमुक काम भी ऐसे हैं जिनके प्रमाद तथा अज्ञानतापूर्वक करनेसे यद्यपि विवक्षित व्रत सर्वथा भंग नहीं होता, तथापि उसमें दूषण लगता है। इसलिये इन दोष उत्पन्न करनेवाले कार्योंको भी तजनेका प्रयत्न करो जिससे निर्दोष व्रत पले। कोई-कोई लोग अतीचारोका अभिप्राय ऐसा समझ लेते हैं कि मानो इनके करनेकी आचार्योंने छुट्टी दी है क्योंकि इनसे व्रत तो भंग होता ही नहीं, उनकी ऐसी समझ ठीक नहीं। अतीचारो का वर्णन^१ इस प्रकार है—

मद्यत्याग के अतीचार—मदिरापानका त्यागी मन, वचन, कायसे सर्व प्रकारकी मादक वस्तु गाँजा, अफीम, तमाखू आदि खाना-पीना तजे, सम्पूर्ण संधानक अचार-मुरव्वा आदि व जिन पदार्थों में फूलन आगई हो तथा जो शास्त्रोक्त मर्यादाके उपरान्त की हो गई हो, ऐसी कोई भी वस्तु, भक्षण न करे, चलित-रस वस्तु का भक्षण न करे, मदिरा पीनेवालेके हाथ का भोजन न करे और न उसके वर्तन काममें लावे।

मांस त्यागके अतीचार—मांसत्यागी चमड़ेके भाजनादि में रखे हुए तेल, जल, घी, हींग, काढा, आटा आदि को भक्षण न करे, चमड़े की चलनी, सूपड़ेसे स्पर्शा आटा भक्षण न करे।

मधुत्यागके अतीचार—मधुका त्यागी पुष्प-भक्षण न करे, अंजन तकके लिए भी मधु का स्पर्श न करे। (सा० ध०)

पंच उदम्बर फलत्याग के अतीचार—पंच उदम्बरफलका त्यागी अजानफल

करके स्वेच्छया प्रवृत्ति करना अनाचार कहा है।

उदाहरण—खेत के बाहिर एक बैल बैठा था उसने विचारा, निकटवर्ती खेतको चरू, यह अतिक्रम है, खड़ा होकर चलना व्यतिक्रम, बारी तोड़ना सो अतीचार और खेत चरना अनाचार है।

^१ ये अतीचार धर्मग्रन्थश्रावकाचार, सागारधर्माभूत तथा ज्ञानानन्दश्रावकाचारादि ग्रन्थोंके आधार में लिखे गये हैं।

तथा काचरी, दोर मुपारी, खारक, नारियल आदि को बिना फोड़े, बिना देखे न खावे ।

रात्रिभोजन त्यागके अतीचार—जो रात्रिभोजनके त्यागी है, उन्हे एक मुहूर्त^१ दिन रहे से एक मुहूर्त दिन चढ़े तक आम, घी आदि फल व रस भी नही खाना-पीना चाहिए, फिर और-और भोज्यपदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? रात्रिका पिसा हुआ आटा व बना हुआ भोजन खाना, दिन को अन्धेरे मे खाना, ये सब रात्रि भोजनवत् हिसाकारक है और रात्रिभोजन त्याग के अतिचाररूप हैं ।

जलगालन के अतीचार—छने हुए जलकी दो घडी की मर्यादा है । मर्यादासे अधिक काल का या कुवस्त्र से (छन्ने सिवाय अन्य वस्त्र से अथवा मैले, कुचैले, फटे, छोटे या सड़े छन्ने से) छना हुआ या जिस छने हुए जल की जीवाणी जलस्थान मे बराबर नही पहुँचाई गई हो या अन्य जलस्थानमे पहुँचाई गई हो, ऐसा जल पीना योग्य नही । ऐसा जल पीने से जलगालन व्रत मे अतीचार लगता है ।

जुआत्यागके अतीचार—जुआ खेलनेका त्यागी गंजफा, चौपड़, शतरंज, दौड़ आदिका खेल बिना शर्त लगाये भी न खेले यदि खेलता है तो जुआ-त्यागमे अतीचार लगता है ।

वेश्यात्यागके अतीचार—वेश्यासेवन के त्यागीको वेश्याओ का गाना सुनना नाच देखना, उनके स्थानोमे घूमना योग्य नही । वेश्याशक्तोकी सोहबत-संगति नही करना । यदि करे तो अतीचार लगता है ।

शिकारत्यागके अतीचार—शिकारके त्यागीको काष्ठ, पाषाण, चित्रामादिकी मूर्त्ति या चित्र आदिको सकल्पपूर्वक तोड़ना-फोड़ना, फाड़ना नही चाहिए । दूसरोकी आजीविका विगाड देनेसे, या धन लुटा देनेसे भी शिकारत्याग मे अतीचार लगता है ।

चोरीत्यागके अतीचार—चोरी के त्यागीको राज्य के भय द्वारा अपने भाई बन्धुओका धन नही छीनना चाहिए, न हिस्सा वाट मे धन छिपाना चाहिए, जो कुछ उनका वाजिव हिस्सा हो, देना चाहिए । यदि ऐसा नही करता है तो चोरी का अतीचार लगता है ।

१ सागारधर्मामृतमे १ मुहूर्त अर्थात् २ घडी और ज्ञानानन्द श्रावकाचार तथा क्रिया-कोपमे दो मुहूर्त अर्थात् ४ घडी कहा है । घडी का प्रमाण २४ मिनट का है ।

परस्त्रीत्यगके अतीचार—परस्त्री त्यागी गन्धर्वविवाह न करे, बालिका (अविवाहिता) के साथ विषयसेवन न करे^१ ।

सप्तव्यसन के त्यागी को मद्य-मांसादि बेचनेवाले तथा इन व्यसनोंके सेवन करनेवाले, स्त्री-पुरुषों के साथ उठना-बैठना, खान पान आदि व्यवहार भी न रखना चाहिए, नहीं तो परिणाम ढीले होकर पहले तो अतीचार लगते हैं पीछे वे ही अनाचाररूप होकर, पूरा व्यसनी बना, धर्म से वञ्चित कर देते हैं ।

इसी प्रकार पञ्च उदम्बर, तीन मकारके त्याग के अतीचार भी धर्मेच्छु पुरुषोंको तजना योग्य है । क्योंकि वड, पीपल, मद्य, मांसादि तो धर्मविहीन अस्पर्श शूद्रादिक भी नहीं खाते तो भी जैनियोंको इनके त्यागकी आवश्यकता इसलिए बताई गई है कि जिससे दार्शनिक जैनी याने जैनधर्म का श्रद्धानी पुरुष इनके विशेषरूप वाईस अभक्ष्यको तजे, और अन्न, जल, दूध, घृतादि शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार भक्षण करे, क्योंकि मर्यादाके पश्चात् इन पदार्थों में भी त्रसराशि की उत्पत्ति हो जाती है । पुन ऐसे बीज फलादिक भी भक्षण न करे जिनमें त्रसजीव उत्पन्न हो गए हो या जिनमें शका हो, क्योंकि ऐसे भोजन से धर्महानिके सिवाय नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं तथा बुद्धि धर्म ग्रहण करने योग्य नहीं रहती ।

१. परस्त्री त्यागके अतीचार में तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रहीता, अपरिग्रहीता गमन कहा है उसका प्रयोजन यही है कि परायेकी विवाही या अनव्याही स्त्री के साथ में एकान्तमें उठना-बैठना आदि व्यवहार न करे, क्योंकि ऐसा करनेसे ससर्गजनित दोष उत्पन्न होना सम्भव है । सागारधर्मामृत तथा धर्म सग्रहश्रावकाचारमें बालिकासेवन अतीचार कहा है सो इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिसके साथ सगाई हो गई हो या होना हो, ऐसी नियोगिनी के साथ विवाह के पहिले सभोग करने में अतीचार है । अन्य बालिकाके सेवन से तो अतीचार ही नहीं किन्तु महा-अनाचार है, यही कारण है कि परस्त्रीसेवीकी अपेक्षा बालिका सेवन करनेवालोको राज्य की ओरसे भी तीव्र दण्ड दिया जाता है । लोकनिन्दा और जातीयदण्ड भी अधिक होता है । (परस्त्री त्यागी सगाई वाली या अन्य बालिकाको परस्त्री न होने का खयाल कर लेता है और व्रत भग नहीं मानता वह अतीचार कहा होगा, पर है यह अनाचार ।)

२२ अभक्ष्य

ओला, घोरवडा, निशिभोजन, बहुवीजा, वैगन, सधान ।

वड, पीपर, ऊमर, कठ-ऊमर, पाकर, फल जो होय अजान ॥

कन्दमूल, माटी विप, आमिप, मधु, माखन अरु मदिरापान ।

फल अति तुच्छ तुषार चलित रस ये जिनमत वाईस वखान ॥ १ ॥

इनका अभिप्राय—(१) ओले—अनछने पानी के जमजानेसे होते हैं, जो असंख्य त्रसजीवोंके घर है। (२) घोरवडा अर्थात् दही वडे—उडद या मूंग की दाल को फुलाकर पीसनेके पश्चात् घृत या तेल में तलकर वडे बनाये जाते हैं। इनको दही या छाछ में डालकर खाने में द्विदल दोष से असंख्य त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिए द्विदल दोषयुक्त घोरवडे खाना योग्य नहीं। (३) रात्रिभोजन का दोष कह ही चुके हैं। रात्रिभोजन का त्यागी रात्रिका बना हुआ, बिना शोधा देखा तथा अंधेरे में भोजन न करे। (४) बहुवीजा—जिस फल में बीजों के अलग-अलग घर न हो, जैसे अफीमका डोडा (तिजारा) तथा अरण्ड काकडी। (५) वैगन—उन्मादका उत्पादक तथा विकृत (देखनेमें घिनावना) होता है। (६) सन्धाना (अथाना)—आम, नीबू आदि को राई, नमक, मिर्चादि मसाले के साथ तेल में या बिना तेल के कितने ही दिनों तक रखने से इसमें त्रसजीवोंकी राशि उत्पन्न होती है और खाने में हिंसा होती है। (७) वड (८) पीपल (९) ऊमर (१०) कठूमर (११) पाकर—इनके दोष पच उदुम्बरमें कह ही चुके हैं। (१२) अजानफल—हिंसा तथा रोग के कारण और कभी-कभी प्राणोंके घातक भी होते हैं। (१३) कन्दमूल—अनन्त जीवोंकी राशि हैं। (१४) खानि की, खेत की मिट्टी—असंख्य त्रसजीवों की राशि है। (१५) विप—प्राणघातक है। (१६) आमिष (मांस) (१७) मधु (१८) मक्खन (१९) मदिरापान इनके दोष तीन मकारमें कह ही चुके हैं। (२०) अतितुच्छ फल—सप्रतिष्ठित वनस्पति

१ जिसके दो फाड़ (दाल) होते हैं, ऐसे अन्नादिक पदार्थ, कच्चा गोरस (दूध-दही-छाछ) और नार मिलनेसे असंख्य त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती और खाने से हिंसा होती है (कि० क्रि० को०) ॥ द्विदल शब्द का अभिप्राय प० आशाघरजी ने चना, मूंगादि द्विदल अन्नमात्र लिया है और प० किशनसिंहजी ने चारोली, बादामादि काष्ठ द्विदल तथा तरौई, मिण्डी आदि हरी द्विदल भी लिया है। अतएव हमारे लिए दोनों प्रमाण हैं। जिससे जितना मधे, उतना साधे परन्तु श्रद्धान ठीक रखे।

अनन्त जीवों की राशि होती है। (२१) तुषार (वर्फ)—असंख्य त्रसजीवों की राशि होती है। (२२) चलितरस—जिन वस्तुओं का स्वाद विगड़ गया हो या जो शास्त्रोक्त मर्यादा से अधिक काल की हो गई हों, उनमें त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है इससे उनके खाने में विगेष हिंसा तथा अष्टमूलगुणों में दोष आता है, इसके सिवाय अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं जिससे धर्मसाधन में बाधा आती है।

खान-पान के पदार्थों की मर्यादा—आटा, वेसन आदि चून की मर्यादा वरसात में ३ दिन की, गर्मी में ५ दिन की और शीतऋतु में ७ दिन की होती है। हर एक ऋतु सानान्यतः अठ्ठाईसे बढ़ती मानी जाती है। छने हुए पानी की मर्यादा १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ी की। लवंगादि तिक्त द्रव्यों द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, बढ़ते हुए जल की मर्यादा दो प्रहर की। अधन सरीखा उष्णजल न होकर साधारण गरम जल की मर्यादा ४ प्रहर की। अधन सरीखे गर्म हुए जल की मर्यादा ८ प्रहर की है। दूध दुहकर, छानकर दो घड़ी के पहले-पहले गर्म कर लेने से उसकी मर्यादा ८ प्रहर की है। (कोई कोई कहते हैं कि दूध ४ प्रहर में ही विगड़ जाता है। अतएव विगड़ जाय तो मर्यादा के भीतर भी नहीं खाय) यदि दूध गर्म नहीं करे, तो दो घड़ी के पीछे उसमें, जिस पशु का वह दूध हो, उसी जाति के सम्मूर्च्छन असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। गर्म दूध में जामन देने पर दही की मर्यादा ८ प्रहर तक है। विलोते समय यदि छाछ में पानी डाला जाय तो उसकी मर्यादा उसी दिन भर की है, यदि विलोये पीछे मिलाया जाय तो उस छाछ की मर्यादा केवल १ मुहूर्त की है (क्रि० को०)। दूरे की मर्यादा शीत में १ माह गर्मी में १५ दिन और वरसात में ७ दिन की। घी, गुड, तेल आदि की मर्यादा स्वाद न विगड़ने तक। खिचड़ी, कढ़ी, तरकारी की मर्यादा दो प्रहर की। पूआ, शीरा, रोटी आदि जिनमें पानी का अधिक अंश रहता है उनकी मर्यादा ४ प्रहर की। पुड़ी, पपड़िया, खाजा, लड्डू, घेवर आदि जिनमें पानी का किंचित अंश रहता है उनकी मर्यादा ८ प्रहर की। जिस भोजनमें पानी न पड़ा हो, जैसे मगद, इसकी मर्यादा आटे के बराबर। पिसे हुए मसाले, हल्दी, धनिया आदि की मर्यादा आटे के बराबर। दूरा, मिश्री, खारक, दाख आदि मिष्ठद्रव्यसे मिले हुए दही की मर्यादा दो घड़ी की। गुडके साथ दही या छाछ मिलाकर खाना अभक्ष्य है।

दार्शनिकश्रावक-सम्बन्धी विशेष बातें—(१) सम्यक्त्वको २५ दोष तथा

पंच अतीचार टाल निर्मल करे' (२) पंच परमेष्ठी को टाल जिनमतके शासनदेव तथा अन्य मिथ्यादृष्टि देवों को मनमें भी न लावे (३) शुद्ध व्यवहारका धारी हो (४) जिस रीतिसे धर्म-कर्ममें हानि आती हो, उस तरहसे धनसंग्रह न करे (५) मद्य, मांस, मधुके वा और भी अनेक प्रकार अधिक हिंसा वा तृष्णा के आरम्भ वा व्यापार न करे (६) प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुणयुक्त होकर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य भावना सदा भावे अर्थात् वैराग्यभाव युक्त हो और तदनुसार ही आचरण करे (७) कुटुम्बी, स्त्री-पुत्रादि को धर्ममें लगावे ।

दर्शनप्रतिमा धारण से लाभ—दर्शन प्रतिमाके पालन करनेसे मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यका सर्वथा अभाव होकर धर्मकी निकटता अर्थात् व्रत धारण करनेकी शक्ति तथा पात्रता होती है । दार्शनिक श्रावक ही यथार्थ में यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी है । यज्ञोपवीत द्विजवर्ण का द्योतक है । लोकमें उत्तम व्यवहारपना प्रगट होनेसे धन-यशादिककी प्राप्ति होती है । धर्मकी ऐसी नींव जम जाती है कि जिससे सांसारिक उच्च पदवियाँ पाते हुए अन्त में मोक्षपदकी प्राप्ति होती है । जैसे शरीर में सिर, महलमें नींव मुख्य है उसी प्रकार चरित्रका मूल दर्शन प्रतिमा है ।

द्वितीय व्रत-प्रतिमा

दर्शनप्रतिमामें अन्याय, अभक्ष्य-जनित स्थूल-हिंसाके कारणोंको सर्वथा त्यागकर आरम्भ सम्बन्धी मोटे-मोटे हिंसादि पापोंके त्यागका क्रमरहित अभ्यास करता हुआ दार्शनिक श्रावक, व्रत धारण करने की इच्छा करता है ।

जो अखण्ड समयदर्शन और अष्ट मूलगुणोंका धारक, माया-मिथ्या-निदान शल्यत्रयरहित, राग-द्वेषके अभाव और साम्यभावकी प्राप्तिके लिए

- १ यहाँ कोई सन्देह करे कि क्षयोपशमसम्यक्त्वो दार्शनिकके सम्यक्त्व प्रकृति मोहनीयके उदयसे चल-मल अगाढरूप दोष लगते हैं, फिर यहाँ सर्वथा अतीचारों का टलना कैसे संभव है ? उसका समाधान-क्षयोपशम सम्यक्त्वोके जो चल-मल अगाढरूप दोष उत्पन्न होते हैं वे सुगुरु, सुदेव, सुधर्मके विषयमें ही विकल्परूप होते हैं । जैसे शान्तिनाथ स्वामी शान्तिके कर्ता हैं, ऐसे विकल्प सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचाररूप नहीं हैं, ८ शंकादि दोष, ८ मद, ६ अनायतन ३ मूढता ये २५ दोष सम्यक्त्व के घातक एवं दूषित करने वाले हैं, सो ये दोष दर्शन प्रतिमा वाले को नहीं लगते ।

अतीचाररहित उत्तरगुणोंको^१ धारण करे, सो व्रती श्रावक है ।

यह बात जगतप्रसिद्ध है और धर्मशास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं कि हिंसा समान पाप और अहिंसा समान पुण्य नहीं है । यद्यपि भेद-विवक्षासे अनेक प्रकारके पाप कहे जाते हैं, तो भी यथार्थमे सब पापोंका मूल एक हिंसा ही है, इसीके विशेष भेद झूठ, चोरी, व्यभिचार और अतितृष्णा हैं । इसी कारण आचार्यों ने शास्त्रों में जहाँ तहाँ इन पाँचों पापों के निवारणका उपदेश किया है । श्रीउमास्वामीजी ने तत्त्वार्थसूत्र में इन पापोंके त्यागरूप पाँच ही व्रत कहकर उनके अणुव्रत, महाव्रत दो भेद किये हैं । पंच पापों का एकदेश त्याग अणुव्रत और सर्वदेश त्याग महाव्रत कहलाता है ।

पंच पापोंका त्याग जब बुद्धिपूर्वक अर्थात् भेदज्ञान (सम्यक्त्व) पूर्वक होता है तभी उसे व्रत सज्ञा होती है । इन व्रतों को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि अंतरग या बाह्य सामग्री की योग्यता देख धारण करके भले प्रकार निर्दोष पालना चाहिए । कदाचित किसी प्रबल कारणवश व्रत भंग हो जाय तो प्रायश्चित लेकर शीघ्र ही पुनः स्थापना करना उचित है ।

गृहस्थ श्रावक प्रत्याख्यानारण कपायके क्षयोपशमके अनुसार अणु-व्रत धारण कर सकता है । इसके महाव्रत धारण करनेके योग्य कषाय नहीं घटी, इससे सर्वथा आरम्भ, विषयकषाय त्यागने को असमर्थ है ।

व्रत प्रतिमामे पंचाणुव्रत तो निरतिचार पलते हैं (रत्नकरडश्रावकाचार और सुभाषित रत्न संदोह का श्रावक धर्म) शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (ये सप्तशील) वाडिकी नाई व्रतरूप क्षेत्रकी रक्षा करते हैं । इनमें तीन गुणव्रत तो उपर्युक्त पंच अणुव्रतों में गुण की वृद्धि करते और चार शिक्षाव्रत इन्हे महाव्रतोंकी हृद् तक पहुँचाते हैं । यद्यपि व्रती जहाँतक सभव हो इनको भी दोषों से बचाता है, तथापि ये सप्तशील व्रतप्रतिमा में निरतिचार^२ नहीं होते । ये पंचाणुव्रत, ३ गुणव्रत

१. दर्शन प्रतिमामे कहे हुए त्याग श्रावकके मूलगुण हैं और व्रतप्रतिमा में कहे हुए उत्तरगुण हैं ।

२. यहाँ कोई शका करे कि व्रतप्रतिमामे ही ये १२ व्रत एक साथ निरतिचार होने चाहिए क्योंकि १२ व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन तत्त्वार्थसूत्रमें एक ही जगह व्रतोंके प्रकरणमें किया है । उसका समाधान—एक ही स्थान पर वर्णन करना तो प्रकरणके वश होता है यहाँ केवल वस्तुस्वरूप बताना था, प्रतिमाओंका वर्णन नहीं करना था, इसलिए जहाँ प्रकरण आया सबका एक साथ वर्णन कर दिया ।

४ शिक्षाव्रत मिलकर १२ व्रत कहलाते हैं। उनके नाम तत्त्वार्थसूत्रानुसार—
पंच अणुव्रत—हिंसा, भूठ, चोरीका एक देशत्याग, परस्त्रीका त्याग और
परिग्रहप्रमाण। तीन गुणव्रत—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति। चार
शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसविभाग।

तीन शल्योका वर्णन—व्रतोंको धारण करनेवाला पुरुष मिथ्या, माया,
निदान इन तीनों शल्यरहित होना चाहिये।

(१) मिथ्या शल्य—जो धर्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं, अर्थात् संसार
और संसारके कारणों तथा मोक्ष और मोक्षके कारणों को नहीं जानता
अथवा विपरीत जानता या सन्देहयुक्त जानता है, इनपर जिसका दृढ़
विश्वास नहीं है और न व्रत धारण करनेका अभिप्राय समझता है,
ऐसा मिथ्यात्वी पुरुष दूसरोकी देखा-देखी या और किसी अभिप्रायके
वश व्रतोका पालन करने वाला अव्रती ही है। जो पुरुष तत्त्वश्रद्धानी होकर
आत्मकल्याण के अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, वही मोक्षमार्गी, पापोका
त्यागी सच्चा व्रती कहलाता है।

(२) माया शल्य—जिसके मनके विचार और, वचन की प्रवृत्ति
और, कायकी चेष्टा और हो, ऐसे पापोको गुप्त रखनेवाले, मायाचारी

हमारे यदि बारहो व्रत दूसरी प्रतिमामे ही निरतिचार हो जावें, तो आगेकी
सामायिकादि प्रतिमा व्यर्थ ठहरें, क्योंकि तीसरी मे ग्यारहवी प्रतिमा तक इन
सप्तश्रुतियोंके निरतिचार पालने का ही उपदेष्टा है। यही बात सर्वार्थसिद्धि तथा
स्वामिकांतिकेयानुप्रेक्षा मे आपा टीकाकार प० जयचन्द जी ने कही है।
यथा व्रतप्रतिमामे पचाणुव्रत निरतिचार होते हैं। तीसरी मे सामायिक और
चौथीमे प्रोपधोपवास निरतिचार होते हैं। पाँचवीमे भोगोपभोग के अतीचार
दूर होते और ग्यारहवीं तक क्रमशः भोगोपभोग घटाकर त्याग कर दिये जाते
हैं। अष्टमी मे आरम्भका सर्वथा त्याग होने मे पचाणुव्रत की पूरी पूरी दृढता
पहुँचती तथा दिग्विरति, देशविरति निरतिचार पलता है। नवमीमे परिग्रहत्याग
होनेसे अतिथिसविभाग निरतिचार पलता है। दशवी-अनुमतित्यागमे अनर्थदण्ड-
व्रत निरतिचार हो जाता है। इस तरह सातों शील निरतिचार होने से अणुव्रत
महाव्रतको परिणतिको पहुँच जाते हैं। सिवाय इनके वसुनन्दिश्रावकाचार मे
भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसविभाग, सल्लेखना ऐसे चार शिक्षाव्रत कहे हैं,
सामायिक, प्रोपधोपवासको व्रतो मे न कहकर प्रतिमा ही कहा है, ऐसी दशा मे
१२ व्रतोका निरतिचार पलना कैसे सम्भव हो सकता है।

पुरुषका दूसरो को दिखानेके लिए अथवा मान-बडाई, लोभादिके अभिप्रायसे व्रत धारण करना निष्फल है। वह ऊपरसे (दिखाऊ) ब्रती है, परन्तु अतरंग मे उसे पापसे घृणा नहीं। इस कारण ठगवृत्ति होनेसे उसे उलटा पापका बंध होता है तथा तिर्यंचादि-नीचगतिकी प्राप्ति होती है।

(३) निदानशल्य—जो पुरुष आगामी सांसारिक विषय भोगोकी बाछाके अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, सो यथार्थमे ब्रती नहीं है। क्योंकि व्रत धारण करनेका प्रयोजन तो सांसारिक विषय-भोगो अथवा आरम्भ-परिग्रहोसे विरक्त होकर आत्म-स्वरूपमे उपयोग स्थिर करनेका है, परन्तु निदान-बध करनेवाला उल्टा पापके मूल विषय-भोगोकी तीव्र इच्छा करके उनकी पूर्ति के लिए ही व्रत धारण करता है। अतएव ऐसे पुरुषके बाह्य व्रत होते हुए भी अतरंग तीव्र लोककपाय होने के कारण पाप ही का बध होता है। यथार्थमे उपर्युक्त तीन शल्योके त्याग होनेपर ही व्रत धारण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

दशलक्षण धर्म नीचे लिखे दश धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। इन लक्षणो से आत्मा के स्वभाव की पहिचान होती है। प्रत्येक धर्म मे जो उत्तम विशेषण लगा हुआ है वह ख्याति, लाभ, पूजा आदि प्राप्ति की इच्छानिवृत्ति के हेतु है अथवा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) होने के लिए है। (१) उत्तम क्षमा : सम्यग्ज्ञानपूर्वक दूसरो के अपराध को अपने तई दंड देने की शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, क्रोधित न होना। (२) उत्तममार्दव : सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपने तई ज्ञान, धन, बल, ऐश्वर्यादि अभिमान के कारण होते हुए भी अभिमान न करना, विनयरूप रहना। (३) उत्तम आर्जव : सम्यग्ज्ञानपूर्वक मन-वचन-काय की कुटिलता को त्यागना सरलरूप रहना। (४) उत्तम सत्य : पदार्थों का स्वरूप ज्यो का त्यो जानना तथा सम्यक्ज्ञानपूर्वक पदार्थों का स्वरूप ज्यो का त्यो वर्णन करना और प्रशस्त वार्तालाप करना अर्थात् वर्मानुकूल वचन बोलना, धर्म को हानि या कलक लगाने वाला वचन न बोलना। (५) उत्तम शौच : सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्मा को कषायो द्वारा मलिन न होने देना, सदा निर्मल रखना तथा लोभ को त्यागना और सन्तोषरूप रहना। (६) उत्तम संयम : सम्यग्ज्ञान पूर्वक इन्द्रियो और मन को विषयों से रोकना और पट् काय के जीवो की रक्षा करना। (७) उत्तम तप : सांसारिक विषयो मे इच्छारहित होकर अनशन (उपवास), ऊनोदर (अल्पआहार), वृत्तिपरिसख्यान (अटपटी आखड़ी लेना), रसपरि-

त्याग (दूध, दही, नमक, तेल, घी, मिष्ठान रसों में से एक दो आदि रसों का छोड़ना), विविक्तशय्यासन (एकान्त स्थान में सोना-बैठना), काय-कलेश (शरीर से उष्ण, शीतादि परीपह सहना) ये षट् बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना) और ध्यान ये छह अंतरंग तप, ऐसे बारह प्रकार तप करना अर्थात् इनके द्वारा आत्मा को तपाकर निर्मल करना, कर्मरहित करना । (८) उत्तम त्याग : अपने न्यायपूर्वक उपार्जन किए हुए धन को मुनि-प्रार्थिका-श्रावक-श्राविका के निमित्त औषधिदान, शास्त्रदान, आहारदान और अभयदान में तथा उपकरणादि सप्त क्षेत्रों में^१ व्यय करना सो व्यवहारत्याग और राग-द्वेष को छोड़ना सो अंतरंग त्याग है । (९) उत्तम आर्किचन्य : बाह्य दश प्रकार (खेत, मकान, चाँदी, सोना, पशु, अनाज, दासी, दास, वस्त्र, वर्तन) और अंतरंग १४ प्रकार (क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, मिथ्यात्व, राग, द्वेष) परिग्रह से ममत्व का सर्वथा त्याग करना । (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य . बाह्य-व्यवहार ब्रह्मचर्य तो स्त्री-विषय का त्याग और अंतरंग (निश्चय) ब्रह्मचर्य व्रत अपने आत्मस्वरूप में उपयोग को स्थिर करना है ।

द्वादश अनुप्रेक्षा—जो वैराग्य उत्पन्न करने को माता-समान और वार-म्बार चिंतवन करने योग्य हो, सो अनुप्रेक्षा या भावना कहलाती हैं, ये १२ हैं—(१) अस्थिर भावना : सासारिक सर्व पदार्थों का संयोग, जो जीवन से हो रहा है उसे अस्थिर चिंतवन करके उनसे रागभाव तजना । (२) अशरण भावना : जीव को इसके शुभाशुभ कर्म ही शरण अर्थात् सुख-दुःख देने वाले हैं, अथवा मोक्ष मार्ग के सहकारी निमित्त कारण पंच परमेष्ठी इसे शरण हैं अथवा यह आत्मा अपने को आप ही शरणरूप है अन्य किसी का शरण नहीं है । उदय में आये हुए कर्मों के रोकने में कोई समर्थ नहीं है । तथा मरणकाल में जीव को रोकने में कोई शरण नहीं है इस तरह निरन्तर चिंतवन करके अपने आत्महित में रुचि करना । (३) ससार भावना : यह संसार जन्म, जरा, मरणरूप है । इसमें कोई भी सुखी नहीं है । प्रत्येक जीव को कोई-न-कोई दुख लगा हुआ है । इस प्रकार ससार को दुख-स्वरूप चिंतवन

- १ जहाँ जिन मंदिर न हो वहाँ जिनमंदिर बनवाना (२) जिनप्रतिमा विराजमान कराना (३) तीर्थयात्रा करना (४) शास्त्र लिखाकर दान करना (५) पूजन करना (६) प्रतिष्ठा करना (७) औषधि आहारादि चार प्रकार दान देना ।

करके उसमें रुचि नहीं करना, विरक्तरूप रहना । (४) एकत्व भावना : यह जीव अकेला आप ही जन्म, जरा, मरण, सुख, दुख, ससार, मोक्ष भोगता है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है । ऐसा विचार कर किसी के आश्रय की इच्छा न करना, स्वयं आत्महित में पुष्पार्थ करना । (५) अन्यत्व भावना : इस आत्मा से अन्य सर्व पदार्थ वा जीव अलग हैं ऐसा चिंतन करते हुए इनसे सम्बन्ध नहीं चाहना । (६) अशुचित्व भावना : यह शरीर हाड, मांस, रक्त, कफ, मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का घर है ऐसा विचारते हुए इससे रागभाव घटाना और सदा आत्मा के शुद्ध करने का विचार करना । (७) आस्रव भावना : जब मन, वचन, कायरूप योगों की प्रवृत्ति कपायरूप होती है तब कर्मों का आस्रव होता है । और उससे कर्म बध होकर जीव को सुख-दुख की प्राप्ति तथा सासारिक चतुर्गति का भ्रमण होता है । इस तरह विचार करते हुए आस्रव के मुख्य कारण कषायों को रोकना चाहिए । (८) संवर भावना : कषायों की मन्दता तथा मन, वचन, काय योगों की निवृत्ति जितनी-जितनी होती जाती है उतना-उतना ही कर्मों का आस्रव होना भी घटता जाता है । इसी को संवर कहते हैं । संवर होने से कर्माश्रव रुक कर बध का अभाव होता है । बध के अभाव से ससार का अभाव और मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा चिन्तन करना । (९) निर्जरा भावना : शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार सुख-दुख की सामग्री के समागम होने पर समताभाव धारण करने से सत्तास्थित कर्मों का स्थिति-अनुभाग घटता है और बिना रस दिये ही कर्मवर्गणाएँ, कर्मत्वशक्ति-रहित होकर निर्जरती हैं । इस प्रकार संवर पूर्वक एक देश (कुछ-कुछ कर्मका अभाव), निर्जरा और सर्वदेश (सम्पूर्ण) कर्म का अभाव मोक्ष कहलाता है । ऐसा चिंतन करके निर्जरा के कारणभूत तपमे ख्याति, लाभ-पूजादिकी, वाछारहित होकर प्रवृत्ति करना चाहिए । (१०) लोक भावना : यह लोक ३४३ राजू घनाकार है, जिसके ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक तीन भेद हैं जिसमें ससारी जीव अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के वश चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं, जीवों के सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित हैं, इन सब को अपनी आत्मा से अलग चिंतन करके सबसे राग-द्वेष छोड़ आत्मस्वभाव में लीन होना ही जीव का मुख्य कर्तव्य है, ऐसा सोचना । (११) बोधिदुर्लभ भावना : अपनी वस्तु का पाना सुलभ तथा सभव है और पर वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ तथा असभव है । जो पर वस्तु की इच्छा करता है तथा प्राप्ति का उपाय

करता है वह बंध अवस्था को प्राप्त होकर दुखी होता है सो यह जीव इस ससार में अनादि काल से अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि परवस्तुओं को अपनाता हुआ दुखी हो रहा है। परन्तु ये परपदार्थ कभी भी उसके नहीं हो सकते, क्योंकि निजात्मा के सिवाय अन्य सर्व पदार्थ इससे पृथक् हैं। अतएव इन सर्व पदार्थों में अपनत्व छोड़ निजात्म-ज्ञान की प्राप्ति करना संभव, सुलभ और सुखदायी है। यद्यपि अनादि काल से कर्मों से आच्छादित होने के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो रही है तथापि यह उत्तम मनुष्य पर्याय, उच्चकुल, दीर्घायु, इन्द्रियो की परिपूर्णता, आत्मज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिनधर्म की प्राप्ति, सार्धर्मियों का सत्संग आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ समागम प्राप्त हुआ है। इस-लिए जैसे वने तैसे आत्मज्ञान की उत्पत्ति में यत्न करना चाहिए, ऐसा चिंतवन करना। (१२) धर्म भावना - दशलक्षणरूप, दयारूप अथवा शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रत्नत्रयरूप धर्म, जो जिनदेव ने कहा है उसकी प्राप्ति के बिना जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है उसके प्राप्त होने से ही यह सांसारिक अभ्युदय को भोगता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, ऐसा चिंतवन करना। इस प्रकार चिंतवन करने से जीव का धर्म में सदा अनुराग रहता है।

वारह व्रतों का वर्णन—अब यहाँ पचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रतों का विशेष वर्णन किया जाता है तथा हर एक व्रत के पाँच-पाँच अतीचार वा पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती हैं। ये भावनाएँ (जिनके चिंतवनसे व्रत दृढ़ होते और निर्दोष पलते हैं) सर्वदेश महाव्रतों को और एकदेश अणु-व्रतों को लाभ पहुँचाती हैं। सूत्रकारोंने भी जहाँ व्रतों के महाव्रत, अणुव्रत दो भेद बताये हैं, वही ये पाँच-पाँच भावनाएँ भी कही हैं, इसलिये इन भावनाओं का देशव्रत, महाव्रत दोनों से यथासंभव सम्बन्ध जानना चाहिये।

१ अहिंसाणुव्रत—“प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा” प्रमत्तयोग अर्थात् कपायो के वश होकर प्राणों का नाश करना सो हिंसा है। मिथ्यात्व, असंयम, कपायरूप परिणाम होना सो भावहिंसा और इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणों का विध्वंस करना सो द्रव्यहिंसा है। जिस प्रकार जीव को स्वयं अपनी भावहिंसा के फलसे चतुर्गति में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार दुःख भोगने पड़ते हैं और द्रव्यहिंसा (शरीर से आत्मा का बलात् वियोग अर्थात् मरण) होनेसे अति कष्ट सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार

दूसरो के द्रव्य और भाव प्राणोकी हिंसा करनेसे भी तीव्र कषाय और तीव्र वैर उत्पन्न होता है जिससे इसे जन्म-जन्मातरोंमें महान् दुःखकी प्राप्ति होती है ।

जो जीव ससार-परिभ्रमणसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें सदा स्व-पर-दयापर दृष्टि रखना चाहिए । जो स्वदया पालन करते हैं उन्हींसे बहुधा नियमपूर्वक पर दया पालन हो सकती है । अतएव स्व-दयानिमित्त विषय-कषाय घटाना योग्य है और पर-दयानिमित्त किसी भी जीवको कषाय उत्पन्न करना या शारीरिक कष्ट देना कदाचित् योग्य नहीं ।

जिस प्रकार भूठ, चोरी आदि सब पापोंमें हिंसा पाप शिरमौर और सबका मूल है उसी प्रकार सत्य, अचौर्यादि धर्मोंमें अहिंसा धर्म शिरमौर है । पापोंका सब परिवार हिंसा की पर्यायों और पुण्यका सब परिवार अहिंसाकी पर्यायों हैं ।

जब आत्माको चैतन्यशक्तिकी अपेक्षा देखा जाता है तो एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यंत वनस्पति, कीड़े, मकोड़े, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि सभी जीव चैतन्यशक्ति युक्त हैं, इस नातेसे छोटे-बड़े सब जीव आपसमें भाई-भाई हैं, ऐसी दशामें किसी भी जीवको वध करना भ्रातृवधके समान महापापवधका कारण है । दूसरे अनादिकालसे ससार में भ्रमते हुए जीवों के अनेक वार आपसमें पिता, माता, भ्राता, पुत्र, स्त्री, वहिन, बेटा आदि के अनेक नाते हुए, इसलिये उनको कष्ट देना, उनका वध करना, धर्म-पद्धति एवं लोकपद्धतिसे सर्वथा विरुद्ध है । तीसरे, जब कोई अपना छोटासा भी शत्रु होता है (जिसका अपनने कभी थोड़ा सा बुरा किया हो) तो मनमें सदा उसकी तरफकी चिन्ता लगी रहती है । भला फिर जब सहस्रो जीवोंका नित्यप्रति चलते, उठते-बैठते विध्वंस किया जाय, बाधा पहुँचाई जाय तो उनसे शत्रुता उत्पन्न करके निश्चिन्तितापूर्वक धर्म-साधन करना कैसे संभव हो सकता है ? कदापि नहीं । चौथे जिस जीवको दुःख दिया जाता व मारा जाता है वह नियम करके बदला लेनेको तत्पर होता है । उसमें बदला लेनेकी शक्तिही व न हो, इसलिये जिन जीवोंको तुच्छ व निर्बल समझकर हिंसा की जाती है, वे जीव इस पर्यायमें व अन्य पर्यायमें अवश्य दुःख देंगे अथवा दूसरे जीवोंके वध करनेके लिए जो कषायरूप परिणाम होता है उससे जो पापकर्मका बन्ध होता है उसकी उदय अवस्था में अवश्यमेव दुःखके कारण उत्पन्न होंगे । इस प्रकार हिंसाको महापाप तथा जीवका परम दुःखदाई वैरी जान त्यागनेका दृढ सकल्प करना सो “अहिंसाणुव्रत” है ।

बुद्धिमानोको हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलके स्वरूपको भलीभाँति जानकर विचारपूर्वक प्रवर्तना योग्य है, क्योंकि अन्तरंग कपायभावो और बाह्य प्राणवधके भेदसे हिंसाके अनेक भेद होते हैं। नीचे कुछ भेद लिखे जाते हैं, सभी में बहुधा प्रमत्तयोगकी मुख्यता रहती है, इसलिए प्रमत्तयोग होनेके निमित्त कारणोको दूर करनेमें प्रयत्नशील होना धर्मप्रेमियोका कर्तव्य है—

(१) सावधानीपूर्वक गमनादि क्रिया करते हुए कर्मयोग-से यदि कोई जीव पाँवतले आकर पीडित भी हो जाय, तो इस दशामें प्रमत्त-योगके अभावसे हिंसाका दोष नहीं लगता। यदि असावधानी रहे और कोई जीव न मरे तो भी प्रमत्तयोग होनेके कारण हिंसाकृत पाप लगता है।

(२) जिनके हिंसा-त्यागका नियम नहीं है उनके हिंसा न करते हुए भी तत्सम्बन्धी पापका आस्रव होता रहता है। नियम होनेपर फिर तत्सम्बन्धी आस्रव नहीं होता—

(३) कपायभावोकी तीव्रता, मन्दता एवं वासनाके अनुसार किसी को तीव्र, किसीको मन्द, किसीको हिंसा करनेके पहिले किसीको करते समय और किसीको हिंसा कर चुकनेपर हिंसाका फल प्राप्त होता है।

(४) कभी कभी ऐसा होता है कि एक पुरुष तो हिंसा करता और फल अनेक पुरुष भोगते हैं। जैसे किसीको फासी लगते देख बहुत लोग कारित-अनुपीदन के दोषसे हिंसाके फलके भागी होते हैं।

(५) कभी-कभी ऐसा होता है कि हिंसा तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु फलका भोक्ता एक ही होता है, जैसे, सेनाके लड़ते हुए सग्राम-सम्बन्धी पापका भागी राजा होता है।

(६) यदि कोई पुरुष ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इसलिए बाह्य आरम्भ हिंसा करते हुए, तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं। उसके परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते, क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करनेसे ही हो रहे हैं।

(७) यदि कोई जीव किसीका भला कर रहा हो और कर्मयोगसे बुरा हो जाय, तो उसे पुण्यका ही फल होगा। इसी प्रकार यदि कोई जीव किसीकी बुराईका प्रयत्न कर रहा हो और कर्मयोगसे भला हो जाय, तो उसे पाप ही का फल लगेगा।

(८) कोई-कोई कहते हैं कि साग तथा अन्नके अनेक दानोंको भक्षण करने की अपेक्षा एक जीवका मांस-भक्षण करने में अल्प पाप है, क्योंकि जीव-जीव तो समान है, सो ये समझ ठीक नहीं। अन्तरंग ज्ञान-प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणों के घातकी अपेक्षा एकेन्द्रीकी हिंसासे वेइन्द्रीकी हिंसामें असंख्यात गुणा पाप वा निर्दयता होती है। इसी प्रकार क्रमसे तेइन्द्री, चौइन्द्री, पचेन्द्रीकी हिंसा में पाप वा निर्दयताकी अधिकता जानो, अतएव भक्षणकी अपेक्षा अन्न-साग मांसभक्षण में अनन्तगुण पाप व निर्दयपना विशेष है।

(९) असह्य दुःखसे पीड़ित जीवको देख शीघ्र ही दुःख से छूट जाने का वहाना करके गोली, तलवार आदिसे उसे मार डालना अज्ञानता है, क्योंकि उस जीवके मार डालनेपर भी जिस पापके फलसे उसे तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ है उस पापके फलसे उसे छुड़ाना किसीके आधीन नहीं है। वे दुःख उस जीवको इस पर्यायमें नहीं, तो अगली पर्यायमें भोगने ही पड़ेंगे। मारनेवाला अपनी अज्ञानतावश व्यर्थ ही हिंसाफलका भागी होता है, क्योंकि अति दुःखी होते हुए भी कोई जीव मरना नहीं चाहता, ऐसी हालतमें उसे मार डालना, प्राणघात करना है।

(१०) कई लोग ऐसी शका करते हैं कि जैनधर्ममें भी तो मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा करना आदि आरम्भ करनेका उपदेश है और इन कामोंमें हिंसाकृत पाप होता ही है फिर जैनी लोगोंका अहिंसा धर्म कैसा? उसका समाधान—जैनी गृहस्थ लोग धर्मसाधनके अभिप्रायसे अर्थात् जहां १०-२० गृहस्थ-जैनियोंके घर हो और उनके धर्मसाधनके लिए धर्मसाधनके योग्य स्थान न हो, ऐसी जगह आवश्यकता जान धर्मबुद्धिसहित, ख्याति, लाभ, पूजाकी इच्छारहित, न्यायपूर्वक कमाये हुए द्रव्यसे ममत्व घटाकर यत्नाचारपूर्वक^१ मन्दिर बनवाते हैं। इसलिए शुभ परिणामोंके कारण उसमें महान् पुण्यका बन्ध होता है, सावधानी रखते हुए भी किंचित् आरम्भिक हिंसाजनित अल्प पाप उस महान् पुण्यके सामने समुद्रमें विषकी कणिकाके समान कुछ भी विगाड़

१ पानी छानकर लगाना, गीला-चूना-मिट्टी आदि बहुत दिनोत्तक नहीं पड़ा रहने देना, रात्रिके अंधेरेमें काम नहीं चलाना, जीवजन्तु वचाकर काम चलाना, सदा जीव रक्षा के परिणाम रखना, मजदूरोकी मजदूरी बराबर देना आदि सब काम विवेकपूर्वक करना यत्नाचार कहलाता है। इसी तरह पूजा प्रतिष्ठादि सब कामोंमें यत्नाचार रखना चाहिए।

करनेको समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जिनमन्दिर बनानेमें सासारिक विषय-कषाय दूर करने तथा मोक्ष-प्राप्तिके कारण वीतरागता-विज्ञानताकी सामग्री मिलाई जानेसे पुण्य बहुत और यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तनसे आरम्भिक हिंसा अल्प होती है। सिवाय इसके ऐसे महान् पुण्यके कार्यमें द्रव्य-व्यय करनेसे लोभ कषाय रूप अन्तरंग हिंसाका त्याग होना है, क्योंकि वह द्रव्य विषय-कषाय के कामों में न लगकर पापोंकी निवृत्ति और महान् सुकृतकी उत्पत्ति में लगता है। इसी कारण शास्त्रोंमें पुण्यबन्धकी करनेवाली पूजा-प्रतिष्ठादि, आरम्भ-जनित शुभ क्रियाएँ गृहस्थके लिए करनेका उपदेश है। हाँ जहाँ आवश्यकता न हो और केवल अपने नाम या मान बढ़ाई आदिके अभिप्रायसे यत्नाचार रहित होकर मन्दिर बनाया जाय और उसमें धर्म-साधन न किया जाय, तो पाप बधनका कारण हो सकता है।

(११) कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि धर्मके निमित्त की हुई हिंसा, पापका कारण नहीं, किन्तु पुण्यका कारण है सो उनका ऐसा कहना मिथ्या है। हिंसा तो त्रिलोक-त्रिकाल में पुण्य-रूप हो ही नहीं सकती, पाप-रूप ही है। यदि हिंसा ही पुण्यका कारण हो तो अहिंसा धर्म व्यर्थ ही ठहरे और देवी देवताओंके निमित्त बध करनेवाले ही पुण्यवान् ठहरे, सो जहाँ जीवोंको निर्दयनापूर्वक दुःख दिया जाता है वहाँ पुण्य होना कदापि सम्भव नहीं होता। हाँ पुण्यके कार्योंमें यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए भी जो अबुद्धि-पूर्वक अल्पहिंसा हो जाती है वह पुण्यकी अधिकताके कारण कुछ शुमार नहीं की जाती, तो भी बुरी है। हर एक कार्यमें कषायकी हीनता-अधिकता, परोपकार-परपीडा तथा दया-निर्दयताके अनुसार पुण्य-पापका बन्ध होता है।

इस प्रकार अनेक नयोंमें हिंसाकृतपापोंके भेदों को समझ कर त्याग करना सच्चा "अहिंसाव्रत" कहलाता है।

यद्यपि हिंसा सर्वथा त्यागने योग्य है, तथापि गृहस्थाश्रममें रहकर गृहसम्बन्धी षट्कर्मोंके किये बिना चल नहीं सकता। गृहस्थोंको चक्कीसे पीसना, उखलीमें कूटना, चूल्हा जलाना, बूहारना, पानी भरना तथा द्रव्यों-पार्जनके लिए घटा करना ही पड़ता है, ऐसी दशामें स्थावरहिंसा तथा आरम्भ-सम्बन्धी त्रसहिंसाका त्याग उनके लिए अशक्यानुष्ठान है, वे इसके त्यागने को असमर्थ हैं, तो भी त्रसहिंसाकी बात तो दूर वे व्यर्थ स्थावरकायकी भी हिंसा नहीं करते। इसी कारण शास्त्रों में जहाँ-

तहाँ गृहस्थको स्थूलहिंसा अर्थात् सकल्पी-त्रसहिंसाका त्यागी अणुव्रती कहा है ।

हिंसा^१ संकल्पी आरम्भी के भेदसे दो प्रकार की है जिसका स्वरूप नीचे कहा जाता है ।

(१) संकल्पीहिंसा—किसी त्रसजीवको आप सकल्प करके मारना अर्थात् शरीराश्रित प्राणोका घात करना, दूसरोसे मरवाना अथवा जान-बूझकर मारनेका विचार करना, सो सकल्पी हिंसा कहलाती है ।

(२) आरम्भी हिंसा—गृहसम्बन्धी पचसून—चक्की-उखली आदि की क्रियाओं—अथवा आजीविकाके धधोमे हिंसासे भयभीत होते हुए तथा सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा हो जाय सो आरम्भी हिंसा कहलाती है ।

व्रती श्रावक सकल्पी हिंसा कदाचित् भी नहीं करता, यहाँ तक कि सकल्प करके सिंह सर्पादि हिंसक-जीवोको भी नहीं मारता, ऐसा सागार-धर्माभूतमे स्पष्ट कहा है । यद्यपि सकल्पी हिंसा दार्शनिक श्रावक भी नहीं करता तो भी अतीचार दोष लगनेके कारण उसे व्रत सज्ञा नहीं हो सकती । यहाँ अतीचारोका भी नियमपूर्वक त्याग हो जाता है । प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे भी कहा है “व्रत प्रतिमाधारी श्रावक शत्रु आदिको मूकी-लाठी आदिसे भी नहीं मारता है तो सिंह, शत्रु आदिको प्राणरहित कैसे करेगा ?” पुनः शास्त्रोमे यह भी कहा है कि यदि कोई आरम्भमे यत्नाचारपूर्वक न प्रवर्तते, तो उसकी आरम्भी हिंसा, सकल्पीके भावको प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थको ‘त्रसहिंसाको त्याग वृथा थावर न सँघारे’ इस वाक्यके अनुसार चलना चाहिए अर्थात् सकल्पी त्रसहिंसा के त्यागके साथ-साथ व्यर्थ स्थावर-हिंसा भी न करना चाहिये ।

अहिंसाणुव्रतके पंचातीचार (१) वध—किसीको लाठी, मूकी, कोडा,

१ श्री सारचतुर्विण्तिका (मूल) मे हिंसाके सकल्पी और आरम्भीके सिवाय उद्यमी और विरोधी ये दो भेद और भी कहे हैं । (१) उद्यमी—आजीविका के धन्वोमे यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है । (२) विरोधी—राज्य कार्यादि मे अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है ।

नोट—ये दोनो भेद आरम्भी हिंसा में गमित हो सकते हैं ।

चावुकसे मारना (यहा शिक्षाके अभिप्रायसे बालक तथा अपराधी पुरुष आदिको दंड देना गिनतीमे नही है) ।

(२) बंध—इच्छित स्थानको जाते हुए किसी को छेड़ना, रोकना या रोककर बाधना, कैद करना (यहाँ पालतू गाय, भैंसादिको घरमे बाँधना गिनतीमे नही है, परन्तु इतना अवश्य है कि वे इस तरह न बाधे जावे, जिससे उन्हें किसी प्रकार की पीडा हो) ।

(३) छेद—नाक फोड़ना, पाँव तोड़ना, अंगभग करना, बेल बधिया करना (यहाँ बालकोका कर्ण छेदन न लेना) ।

(४) अतिभारारोपण—गाडी घोडा बेल आदिपर प्रमाणसे अधिक बोझा लादना ।

(५) अन्नपान निरोध—खाने पीनेको समयानुसार न देना, भूखो प्यासो मारना ।

इन पच अतीचारोके तजनेसे अहिंसा अणुव्रत निर्दोष पलता है । यदि अतीचार लगे तो व्रत सदोष हो जाता है अतएव अतीचार दोष न लगने देना चाहिये ।

अहिंसाणुव्रत की पच भावना^१ (१) 'मनोगुप्ति—मनमे अन्यायपूर्वक विषयभोगनेकी वाछा, दूसरोका इष्टवियोग हानि, तिरस्कार चितवन आदि दुष्ट सकल्प-विकल्प न करना ।

(२) वचन गुप्ति—हास्य, कलह, विवाद, अपवाद अभिमान तथा हिंसाके उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना ।

(३) ईर्यासमिति—त्रसजीवोकी विराधना रहित, हरित त्रण, कर्दमादिको छोड देख शोध, धीरतासे यत्नाचार पूर्वक गमन करना, चढना,

१ बार-बार किसी बातके स्मरण करनेको, पुनरावृत्ति करने की भावना कहते हैं । भावनाओ के बार-बार चिन्तवन करनेसे परिणामोमे निर्मलता, व्रतो मे दृढता होती है । अशुभध्यानका अभाव और शुभ भावो की वृद्धि होती है । श्रौतत्वार्थ-सूत्रजी मे पाँचो व्रतोकी पाँच-पाँच भावना सामान्यरूपसे कही गई हैं, उनको अणुव्रतोमे एक देश और महाव्रतो मे सर्वदेश समझना चाहिये । यहाँ पर रत्नकरणश्रावकाचारके भाषा टीकाकार प० सदासुखजी के कथानानुसार पचाणुव्रतोकी भावना कही गई हैं ।

उतरना, उल्लघन करना, जिससे आपको वा दूसरे जीवोको वाधा तथा हानि न हो ।

(४) आदान-निक्षेपण-समिति हरएक वस्तु, पात्र आदि यत्नसे उठाना, धरना जिससे अपनी वा परकी हानि न हो, आपको वा परको सक्लेश वा शारीरिक पीडा न हो ।

(५) आलोकित-पान भोजन—अन्तरगमे द्रव्य क्षेत्र काल-भावकी योग्यता-अयोग्यता देखकर और बाह्यमे दिवसमे, उद्योतमे, नेत्रोसे भलीभाँति देख-शोध आहार करना, जल पीना ।

इन पाँच भावनाओका सदा ध्यान रखनेसे व्रतोमे अधिकाधिक गुणोकी प्राप्ति होती है । जैसे औषधिमे सोठ या पानके रसकी भावना देनेसे तेजी बढती है, वैसे ही भावनाओके चितवन करनेसे व्रत निर्मल होता है और दोष नही लगने पाते ।

जो लोग इस प्रकार भलीभाँति अहिंसाणुव्रतके स्वरूपको जान अ त-रग कषायभाव व बाह्यआरम्भी-त्रसहिंसा नही करते, वे ही सच्चे अहिंसाणु-व्रतके पालक एव स्थूल-हिंसाके त्यागी हैं ।

२ सत्याणुव्रत—‘प्रमत्तयोगादसदमिधानमनृतम’ अर्थात् कषायभाव पूर्वक अयथार्थ भाषण करना असत्य कहलाता है । जैसे—होतेको अनहोता या भलेको बुरा कहना अथवा अनहोते को होता या बुरेको भला कहना, ये सब असत्य हैं । पुन ऐसे सत्यवचन को भी असत्य जानना जिसके बोलनेसे दूसरोका अपवाद, विगाड या घात हो जाय, अथवा पंच पापमे प्रवृत्ति हो जाय, क्योंकि ऐसे भाषण करनेवालेके वचन सत्य होते हुए भी चित्तवृत्ति पापरूप ही रहती है । इसी प्रकार जिस वचनसे भलाई उत्पन्न हो, पापसे बचाव हो, वह वचन असत्य होते हुए भी बोलने वाले के शुभ विचारोका द्योतक है इसलिए सत्य है । इस प्रकार सत्य-असत्यका स्वरूप भलीभाँति जान उपर्युक्त प्रकार स्थूल असत्यका त्याग करना सो सत्याणुव्रत कह-लाता है ।

हिंसाके समान असत्य भी बडा भारी पाप है, एक झूठके बोलनेपर उसकी पुष्टताके लिए सैकडो झूठे प्रमाण ढूढने पड़ते हैं, जिससे आकुलता-व्याकुलता बढकर स्वात्महिंसाके साथ कभी-कभी स्वशरीर घात करनेका कारण भी उपस्थित हो जाता है । असत्यवादी दूसरोको मानसिक एव

शारीरिक कष्ट तथा हानि पहुँचाकर पर द्रव्य-भाव-हिंसाका भी भागी होता है। जिस प्रकार अपनसे कोई भूठ बोले, घोखा दे तो अपने हृदयमें अति दुःख होता है, उसी प्रकार किसीसे आप भूठ बोले या घोखादे, तो उसकोभी दुःख होना सम्भव है। अतएव असत्य भाषणमें हिंसाकृत दोष-निश्चय करके इसे सर्वथा तजना योग्य है। असत्य-भाषणसे लोकमें निन्दा होना, राज्यसे दंड मिलना आदि अनेक दोष उत्पन्न होते और परलोकमें कुगति होती है। इसके विरुद्ध सत्यभाषणसे लोकमें प्रामाणिकता, यश, बडप्पन तथा लाभ होता और परलोकमें स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। असत्यके विशेष भेद यद्यपि अनेक हैं तथापि सामान्यतः ४ भेद हैं—

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसेहोती (छती) वस्तुको अनहोती कहना
(२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अनहोती वस्तु को होती कहना (३) कुछका कुछ कह देना (४) गहितवचन अर्थात् दुष्टताके वचन, चुगलीरूप वचन, हास्यरूप वचन, मिथ्या-श्रद्धानके वचन, कठोरवचन, शास्त्रविरुद्ध वचन, व्यर्थ वक्तवाद, विरोध बढ़ानेवाले वचन, पापरूप वचन, अप्रिय वचन कहना।

यद्यपि गृहस्थाश्रमी पुरुष भोगोपभोगके साधनमात्र सावद्यवचनके त्यागनेको असमर्थ है, तो भी यथासम्भव इसमें भी असत्य भाषणका प्रयोग नहीं करता, शेष सर्व प्रकारके असत्य का त्यागी होनेसे सत्याणुव्रती हो सकता है। हर एक मनुष्यको चाहिए, कि जिससे परजीवका घात हो, ऐसे हिंसक वचन न कहे। जो दूसरोको कड़ुवे लगे अथवा क्रोध उपजावे, ऐसे कर्कश वचन न बोले। दूसरोको उद्वेग, भय, शोक, कलह उत्पन्न करनेवाले निष्ठुर वचन न बोले। दूसरो के गुप्त भेद प्रकट करनेवाले अथवा जिससे किसीको हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो, ऐसे वचन न बोले। सदा दूसरो के हितकारी, प्रमाणरूप, सन्तोष उपजानेवाले, धर्मको प्रकाशित करनेवाले वचन कहे।

अनृतवचनके सर्वथा त्यागी महामुनि तथा एकदेश-त्यागी श्रावक, अन्य श्रोतागणोंके प्रति वारम्बार हेयोपादेयका उपदेश करते हैं, इसलिए उनके पाप निषेधक वचन, पापी पुरुषोंको निष्ठुर और कटुक लगते हैं। तो भी प्रमत्तयोग के अभावसे उन वक्ताओंको असत्य भाषणका दूषण नहीं लगता, क्योंकि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषण असत्य कहलाता है।

सत्याणुव्रतके पंचातीचार—(१) मिथ्योपदेश—शास्त्रविरुद्ध उपदेश देना अर्थात् उपदेश तो सत्य हो परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके विरुद्ध हो, धर्मका बाधक हो ।

(२) रहस्याख्यान—किसीकी गुप्त बात प्रकट करना अथवा स्त्री-पुरुषोंकी गुप्त चेष्टाको प्रगट करना ।

(३) कूटलेखक्रिया—भूठी वाते लिखना या अन्य के नामसे उसकी आज्ञा बिना सत्य भी लिखना, भूठी गवाही देना ।

(४) न्यासापहार—किसीकी धरोहर रखी हो और वह भूलकर कम रखी हुई बतावे या कम माँगे तो कम ही देना ।

(५) साकार मंत्रभेद किसी के अभिप्राय को उसकी किसी चेष्टा द्वारा जानकर औरोपर प्रकट करना ।

बहुधा लोग इन पञ्च अतीचारोंमें कुछ भी दोष न समझकर और साधारण रीतिसे लौकिक पद्धति समझकर अतीचाररूप काम करते हैं, परन्तु ये कार्य-सत्याणुव्रतको दूषित करने वाले हैं । इतना ही नहीं किन्तु इनके बार-बार वर्तवि करने से सत्याणुव्रत भग्न हो जाता है । इसलिए इन दोषोंको बचाना चाहिये ।

सत्याणुव्रतकी पंच भावना (१) क्रोधत्याग—क्रोध नहीं करना, यदि किसी बाह्य प्रबल कारण से क्रोध उत्पन्न हो जाय तो विवेकपूर्वक उसे दमन करना, मौन धारण करना ।

(२) लोभत्याग—जिससे असत्यमे प्रवृत्ति होती हो, ऐसे लोभको छोड़ना ।

(३) भयत्याग—जिससे धर्मविरुद्ध, लोकविरुद्ध वचन में प्रवृत्ति हो जाय, ऐसा धन बिगड़ने, शरीर बिगड़ने का भय नहीं करना ।

(४) हास्यत्याग—किसी की हँसी मसखरी नहीं करना, हास्य-वचन नहीं कहना ।

(५) अनुवीचि भाषण—जिन-सूत्रसे विरुद्ध वचन न बोलना ।

इन पंच भावनाओंकी सदा स्मृति रखनेसे असत्य भाषण से रक्षा होती है और सत्याणुव्रत निर्मल होता है । इसलिये जो पुरुष सत्याणुव्रतको निर्दोष पालना चाहे, वे सदा इन पंच भावनाओंको भाते रहे, जिससे लोक-परलोकमें सुख के भागी हो ।

३ अचौर्याणुव्रत—“प्रमत्तयोगाददत्तादान स्तेयम्” कपायभावयुक्त होकर दूसरे की वस्तु उसके दिये विना या आज्ञा विना ले लेना चोरी कहलाती है। चोरीके सर्वथा त्यागसे अचौर्य महाव्रत और एकदेश (स्थूल) त्याग से अणुव्रत होता है। किसीके रक्खे हुए, गिरे हुए, भूले हुए तथा धरोहर रक्खे हुए द्रव्यको नहीं हरण करना और न उसके मालिककी आज्ञा विना किसीको दे देना, इस प्रकार स्थूल चोरीका त्याग, सो अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

ससारमे धन ग्यारहवा प्राण है, धन के लिये लोग अपने प्राणोको भी सङ्कटमे डालते नहीं डरते। रण-सग्राम, समुद्र, नदी, पर्वत, गहन-वनादि मे जहाँ प्राणोके नाग की सभावना रहती है, वहा भी धनके लिए प्रवेश करते है। यदि चोर, ठगादि लूटनेको आवें, तो प्राण देना कबूल करते हैं, पर धन देना कबूल नहीं करते। इस प्रकार धन को प्राणोसे भी अधिक प्यारा समझते है। इसलिये जो पराया धन हरण करता है वह आप पापवध करके अपने आत्मीक जान-दर्शन प्राणोका घात करता है। चोरीसे इस भवमे राजदण्ड, जातिदण्ड मिलता, निन्दा होती तथा परभव मे नीच गतियोके दुःख भोगने पडते है। ऐसा जानकर दृढ-चित्त, गुद्ध-बुद्धि पुरुषो को उचित है कि दूसरे की भूली हुई अथवा मार्ग मे पडी हुई वस्तु न लेवे। छल-छन्दसे किसीका द्रव्य न लेवे। अपने पास किसीकी धरोहर रक्खी हुई हो, उसे दवा लेनेकी इच्छा न करे। किसीकी बहुमूल्य वस्तु अल्पमूल्यमे न लेवे। क्रोध-मान-माया-लोभसे किसीका द्रव्य न ले और न लेनेवालेको भला कहे।

गृहस्थ जलागयोका जल तथा खानिकी मिट्टी या ऐसे फलादिक जो आम लोगोके भोगोपभोगके लिये नियत किये गये हो, विना दिये ले सकता है। तथा चारागाह जो आम लोगोके निस्तारके लिये छोड दी गई हो, उसमे ढोर चरा सकता है। क्योंकि वह राजाकी तरफ से प्रजाके निस्तारके लिए नियत की गई है। इसमे विरोध बात यह है कि किसीके रखाए हुए, रोके हुए, ठेके पर दिए हुए जल, मिट्टी, फल, घास-फूल आदिको स्वामीकी आज्ञाके विना लेनेसे चोरीका दोष लगता है। किसी पुरुषके मरनेपर उसके धनका अपनेतई वारिस होना निश्चय होते हुए भी उस धनको उस पुरुषके जीते जी अपनाना या उसकी मरजीके विना दूसरोको दे देना, किसीकी पचायती या मुकद्दमा सच्चा अथवा झूठा फैसला करके रिश्वत लेना, किसी की बहुमूल्यकी वस्तु जानबूझकर कम मोल मे ले लेना अपने धन-

वस्त्रादिमे ये हमारा है या नहीं ? ऐसा सग्य होते हुए भी ले लेना ये सब चोरी ही की पर्याय है, क्योंकि इन सबमे प्रमत्तभाव का सद्भाव है। अतएव प्रत्येक गृहस्थ को “जल-मृत्तिका विन और नाहि कछु गहै अदत्ता” इस वाक्य के अनुसार अचौर्यव्रत पालन करना चाहिए।

अचौर्याणुव्रतके पंच अतिचार (१) चौरप्रयोग - चोरी के उपाय बताना कि चोरी अमुक-अमुक रीतिसे की जाती है या चोरी करनेवालोको सहायता देना।

(२) **चौरार्थादान**—चोरी किया हुआ पदार्थ ग्रहण करना, मोल लेना।

(३) **विरुद्धराज्यातिक्रम**—विरुद्धराज्यमे जाकर अन्यायपूर्वक लेन-देन करना, राज्यके कानूनको तोड़ना, राज्य का महसूल चुराना। पुनरत्नकरण्डश्रावकाचारमे विलोप कहा है अर्थात् राज्य के नियमोको तोड़ना तथा राज्याज्ञाके विरुद्ध काम करना।

(४) **हीनाधिकमानोन्मान**—नापने, तौलनेके गज, बाटादि कम-बढ़ रखना।

(५) **प्रतिरूपकव्यवहार**—बहुमूल्यकी चीजमे अल्पमूल्य की चीज मिलाकर बहुमूल्यके भावसे बेचना।

बहुधा अनसमभ व्यापारी लोग राज्यमे मालका महसूल नहीं चुकाते, बेचने-लेने मे कम-बढ़ तोलते या दूध मे पानी, घीमे तेल आदि खोटा खरा मिलाकर बेचते हैं, अथवा भूठे विज्ञापन (इस्तिहार) देकर लोगोको ठगते, मालका नमूना कुछ और बताते और पीछे माल और कुछ देते हैं, इत्यादि अनेक कपट-चतुराई करते और इसे व्यापार-धन्धा समझते हैं। सो ये सब चोरीका ही रूपान्तर है। अतएव इन पाँच अतीचारोको अचौर्याणुव्रतमे दोष उत्पन्न करनेवाले जान त्यागना योग्य है।

अचौर्याणुव्रत की पंचभावना (१) शून्यागारवास—व्यसन्ती, दुष्ट, तीव्र, कपायी कलह विसवाद करनेवाले पुरुषोसे रहित स्थानमे रहना।

(२) **विमोचितवास**—जिस मकानमे दूसरेका भगडा न हो, वहा निराकुलता पूर्वक रहना।

(३) **परोपरोधाकरण**—अन्यके स्थानमे वलपूर्वक प्रवेश नहीं करना।

(४) **भक्ष्यशुद्धि**—अन्यायोपार्जित द्रव्य द्वारा प्राप्त किया हुआ तथा

अभक्ष्य भोजनका त्याग करना, अपने कर्मानुसार प्राप्त शुद्ध भोजनको लालसारहित, सन्तोषसहित ग्रहण करना ।

(५) सधर्माविसंवाद—साधर्मी पुरुषोसे कलह-विसवाद नहीं करना ।

इन पंच भावनाओंको सदा स्मरण रखकर अचौर्याणुव्रत दृढ़ रखना तथा और भी जिन कारणोंसे अचौर्यव्रत दृढ़ रहे, उन कारणोंको सदा मिलाते रहना चाहिए ।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत—“प्रमत्तयोगान्मैथुनमब्रह्म” प्रमत्तयोग अर्थात् वेदकषाय जनित भावयुक्त स्त्री-पुरुषोंकी रमणक्रिया कुशील कहलाता है । इस कुशील के त्याग को ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं । यथार्थ में ब्रह्म जो आत्मा उसमें ही आत्माके उपयोग (चैतन्यभाव) की चर्या अर्थात् रमणक्रिया (गमनागमन) सच्चा ब्रह्मचर्य है । उस सच्चे ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मामें उपयोगके स्थिर होनेमें बाधक कारण मुख्यतः स्त्री है इसलिये जब सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्त्रीसे विरक्त होकर कोई पुरुष मुनिव्रत धारण करता है तभी आत्मस्वरूपमें रमनेवाला साधु (आत्मस्वरूपका साधक) कहलाता है । इसी कारण स्त्रीका सर्वथा त्याग करना व्यवहार ब्रह्मचर्य कहा गया है । गृहस्थके इतनी अधिक वेदकषायकी मन्दता न होने से अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने से वह सर्वथा स्त्री-त्याग करनेको असमर्थ है । ऐसी हालत में वेदकषाय सम्बन्धी वेदनाकी उपशान्तिके लिए स्वदार-सन्तोष धारना अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र एवं पंचोंकी साक्षीपूर्वक विवाही स्वस्त्री के सिवाय और सब पर-स्त्रियोंका त्याग करना ही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य अणुव्रत है ।

यद्यपि राजा, जाति, तथा कुटुम्बके भयसे अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अभावसे (योग्यता न मिलनेसे) लोकमें व्यभिचार रुका हुआ है अर्थात् इन कारणों से लोग व्यभिचार सेवन नहीं करते, तो भी वह कुशील-त्याग व्रत नहीं कहला सकता, क्योंकि इसमें प्रमत्तयोगका अभाव नहीं है । जब इन उपर्युक्त कारणोंके बिना सम्यग्ज्ञानपूर्वक कुशीलको धर्मका बाधक जान, पापके भयसे परस्त्रीको न तो आप सेवन करे, न दूसरोंको सेवन करावे और न परस्त्री-सेवीको भला समझे, केवल अपनी विवाही हुई स्त्रीमें ही सन्तोष धारण करे, तभी सच्चा स्वदार सन्तोषी एवं कुशीलत्यागी कहला सकता है । उसे उचित है कि अपनी स्त्री-सिवाय अन्य अपनेसे

छोटीको पुत्री समान, बराबर वालीको वहिन समान और बड़ीको माता समान जान कदापि विकार भाव न करे ।

विचार करनेकी बात है कि जब कोई पुरुष किसीकी स्त्री, माँ, वहिन या बेटीकी तरफ कुदृष्टिसे देखता, हसता या कुचेष्टा करता है तब उसके चित्तमे इतना असह्य क्रोध तथा दुःख उत्पन्न होता है कि वह दोषीको मारने-मरनेको तय्यार हो जाता है, यही बात हरएक पुरुष स्त्रीको ध्यानमे रखना चाहिए । व्यभिचार सेवन करनेसे स्व-पर-द्रव्य भाव-हिंसा होती तथा राजदड, पंचदडकी प्राप्ति होती है । प्रत्यक्ष ही देखो कि व्यभिचारके कारण सैकड़ों स्त्री पुरुषोंके प्राणाघात के मुकद्दमे सरकारी अदालतोंमे नित्यप्रति आते हैं । पुनः स्त्रीके योनि, कुच, नाभि, काँख आदि स्थानोंमे सन्मूर्छन, सैनी, पचेन्द्रिय मनुष्य (जीव) सदा उत्पन्न होते रहते हैं इस-लिए स्त्री सेवनसे उन प्राणियों का घात होता है । स्वस्त्री के कामके अगो-के स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी समानता होने से स्वस्त्री सेवन मे कम हिंसा और परस्त्रीके स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी असमानता होनेसे परस्त्री सेवन-में असख्यात गुणी द्रव्य-हिंसा होती है । इसी प्रकार कामकी मूर्च्छा अर्थात् लम्पटभाव भी स्वस्त्री सम्बन्धमे बहुत कम और परस्त्री सम्बन्धमे बहुत (उत्कट) होनेसे अनन्तगुणी भाव-हिंसा होती है । इसी कारण पर-स्त्री की लुब्धता व्यसनो मे और स्वस्त्री सेवन विषयो मे कहा गया है । इस प्रकार यह कुशील हिंसाका परिवार एव महापाप है । जैसे सप्त व्यसनोका मूल जुआ है उसी प्रकार पच पापोंका उत्पादक यह व्यभि-चार है ।

इस दोषसे बचनेके लिए अन्य स्त्री (वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारी आदि) सेवनका सर्वथा त्याग करना चाहिए, तभी परस्त्री त्याग अथवा स्वस्त्रीसतोषव्रत पल सकता है । कोई कोई कहते हैं कि परस्त्रीका त्यागी वेश्यासेवन करे तो अतीचार दोष लगता है क्योंकि वेश्या परस्त्री नहीं है उसने किसीके साथ विवाह नहीं किया, सो ऐसा कहना महा अनर्थ एव पापका कारण है । वेश्यासे बोलने, आने, जाने, देन-लेन रखनेसे ही शील-व्रतमे अतीचार दोष लगता है, उसका सेवन सप्त व्यसनका मूल, अनेक अनेक रोगों व आपदाओंका उत्पादक है । वेश्याको 'नगरनारि' कहा है । वह एक ही पर पुरुषकी स्त्री नहीं है किन्तु नगर-परनगर सभी स्थानोंके पुरुषोंके पैसेकी स्त्री है, इसी कारण वेश्यासेवनको पहले छोड़नेका आचार्यों-ने उपदेश दिया है, पीछे परस्त्री त्यागका । अतएव जिसने वेश्या-व्यसनका

त्याग किया हो, वही परस्त्री त्याग एव स्वदार-सन्तोषव्रत धारण करनेका अधिकारी हो सकता है, क्योंकि लघुपाप त्याग महापाप सेवन करना सर्वथा कर्मविरुद्ध और अनुचित है। ऐसी विधिको निरूपण करना भी महापाप है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारक पुरुषको पूर्ण गर्भवती (जिसके ५ माहसे अधिकका गर्भ हो) प्रसूतवाली (जिस स्त्रीके वच्चा उत्पन्न हुए सूतकका काल डेढ़ माह पूर्ण न हुआ हो) रजस्वला, रोगिणी, बालिका, कुंवारी, अतिवृद्धा स्वस्त्री का भी सेवन न करना चाहिए। चैत्यालय, तीर्थ स्थान, पवित्र वा पूज्य क्षेत्र तथा अपवित्र स्थानमे स्वस्त्रीका भी सेवन न करना चाहिए। अष्टमी, चतुर्दशी, तीनों अष्टान्हिका, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रयादि महापर्वों एव शील-सयम पालनेके समयोमे, सहधर्मियो, राजा-ओ, महन्तपुरुषों एव इष्ट पुरुषोंके मरण समय, इन कालोमे भी स्वस्त्रीका सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे पापबध होनेके सिवाय लोक-निन्दा तथा रोगोकी उत्पत्ति होती है।

वैद्यक ग्रंथोमे स्पष्ट लिखा है कि ऋतुधर्मके कालमे स्त्रीसेवन करने से स्त्री-पुरुष—दोनोंकी धातु-क्षीण, गर्मी, सुजाकादि रोग होना सभव हैं, यदि गर्भ रह जाय तो दुर्गुणी, अल्पायु सन्तान उत्पन्न होती है। शास्त्रोमे ऋतुसमय स्त्रीसे सभाषण करने तकका निषेध है। उसे स्पर्श करने, उसके छूए हुए भोजन-पान करनेसे बुद्धि मन्द, मलीन और भ्रष्ट हो जाती है, फिर उसे सेवन करना हानिकारक क्यों न हो? इसी प्रकार अल्पवयस्क स्त्रीको सेवन करनेसे स्त्रीकी आदत विगडजाती और बहुधा व्यभिचारिणी हो जाती है। रोगिणी तथा अतिवृद्धा स्त्रीके सेवन से धातुक्षीण हो जाती है। स्वस्त्री मे अतीव काम सेवन तथा अनगव्रीडा करना प्रकट ही दुःखका कारण है, इससे इन्द्रियोकी शिथिलता, स्वप्नदोष, पिंडलियोमे शूल, शरीरकी अशक्तता, धातुविकार, प्रदर-रोग, रज दोष, सन्तानहीनता, वध्यापना, नपु सकता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, ऐसा जान योग्य प्रवृत्ति करना ही श्रेष्ठ है।

इस व्रतके विषयमे पुरुषोंकी नाईं स्त्रियोको भी स्वप्नमे-पर पुरुषकी वाछा नहीं करना चाहिए। अपने विवाहित-पति की, चाहे वह सुन्दर—सर्वगुणसम्पन्न हो, चाहे रोगी, वृद्ध, कुरूप, लूला, लगडा कैसा भी क्यों न हो सेवा करना, उसकी आज्ञामे चलना और पतिव्रत-धर्मको निर्दोष पालना चाहिए। स्त्रियोको किसी भी हालतमे कभी स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) नहीं रहना

चाहिए, क्योंकि स्वेच्छाचार पूर्वक रहनेसे व्यभिचारादि अनेक दोषो एव निन्दाओका उत्पन्न होना संभव है। अतएव स्त्रियोको वचनमे माता-पिताके आधीन, विवाह होने पर पतिके आधीन, कदाचित् विधवा हो जाय तो पुत्रादि कुटुम्बी जनोके आधीन रहना चाहिए। विधवाओको ब्रह्मचर्यव्रत धारणपूर्वक आत्मकल्याणमे प्रवर्तना चाहिए अथवा उत्तम श्राविका या आर्थिकाकी दीक्षा लेकरसाधर्मी स्त्रियोके सधमे रहकर गुरानीकी आज्ञापूर्वक प्रवर्तना चाहिए। ऐसी स्त्रियाँ देवो द्वारा स्तुतिपूजाको प्राप्त होती और मरण पश्चात् स्वर्गमे उत्तम महद्भिक देव होती है।

कुशीलत्याग अणुव्रतके पंचातिचार—(१) परविवाहकरण—अपने पुत्र-पुत्री सिंवाय दूसरोके पुत्र-पुत्रीकी शादीका मेल मिलाना, शादी करना।

(२) इत्वरिका परिग्रहीतागमन—व्यभिचारिणी स्त्री जिसका स्वामी हो, उसके घर आना-जाना या उससे बोलने उठने-बैठने, लेन-देनका वर्ताव करना।

(३) इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन—स्वामीरहित व्यभिचारिणी स्त्रीके घर आना-जाना, या उससे बोलने, उठने, बैठने, लेन देनका वर्ताव करना।

(४) अन्नंगक्रीडा—कामसेवनके अगोको छोड़ अन्य अगो द्वारा क्रीडा करना या अन्य क्रियाओ द्वारा कामकी शान्ति करना।

(५) कामतीव्राभिनिवेश—स्वस्त्रीमे भी कामसेवनकी अति लम्पटता रखना। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके विचारे बिना काम-सेवन करना।

यहाँ जो व्याही या वेव्याही परस्त्रीके प्रति गमन करना लिखा है, सो गमन शब्दका अर्थ-उसके यहाँ जाना अथवा जघन, स्तन, दाँत आदि अगोका रुचिपूर्वक देखना, प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना, हाथ, भौह आदिकी चेष्टा करना आदि जानना। गमन शब्दका अर्थ सेवन नहीं है।

इन पंच अतीचारोके लगने से ब्रह्मचर्य अणुव्रत मलीन होता है तथा बार-बार लगनेसे क्रमशः नष्ट हो जाता है। अतएव इन्हे त्याग निर्दोष ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पंचभावना (१) स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—अन्यकी स्त्रियो से राग उत्पन्न करनेवाली कथा, वार्ता, गीत, सुनने-पढ़ने-कहनेका त्याग करना।

(२) तन्मोहरागनिरीक्षणत्याग—अन्यकी स्त्रीके मनोहर अगो को रागभावपूर्वक न देखना।

(३) पूर्वरतानुस्मरण—अणुव्रत धारणकरनेके पहिले अव्रत अवस्थामे भोगे हुए भोगोका स्मरण नही करना ।

(४) वृष्येष्टरसत्याग—कामोद्दीपक पुष्ट एव भरपेट व रस-मात्रादिक भक्षण न करना ।

(५) स्वशरीरसंस्कारत्याग- कामी पुरुषोसरीखे कामोद्दीपन करने योग्य शरीरको नहाने, तेल, उवटनादि लगाने, वस्त्रादि पहिरने, शृ गार करनेका त्याग करना । सादा पहिनाव-उढाव रखना ।

इन पच भावनाओके सदा चितवन करनेसे परस्त्रीत्याग एव स्वदारसतोप व्रत दृढ रहता है, इसलिये ब्रह्मचर्य अणुव्रतीको इन भावनाओका सदा चितवन करना चाहिये ।

५ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत—“प्रमत्तयोगान्मूर्च्छा परिग्रहः” आत्माके सिवाय जितनेमात्र रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिकादि नो कर्म तथा गरीरसम्बन्धी स्त्री, पुत्र, वन, धान्य, गृह, क्षेत्र वस्त्र, वर्तन आदि चेतन-अचेतन पदार्थ हैं, सो सब पर हैं । इन्हे ग्रहण करना व इनसे ममत्वभाव रखना सो परिग्रह है । इस परिग्रहका आवश्यकतानुसार परिमाण करना सो परिग्रह परिमाण व इच्छा परिमाण अणुव्रत है ।

जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वकर्मके उदयवश अपनी आत्माको और इन कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्रादि परिग्रहोको एक स्वरूप ही श्रद्धान कर रहा है । यद्यपि प्रत्यक्ष देखता है कि मरने पर स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि साथ नही जाते, यहाँतक कि आत्मासे एकक्षेत्रावगाह रहनेवाला यह नाशवान् शरीर भी यही पडा रह जाता है, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म भी आत्मासे भिन्न हैं, जबतक आत्मा भूलवग इनका कर्त्ता बनता है, तबतक चतुर्गति मे भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुःख भोगता है । यथार्थ मे ये सब पदार्थ इस आत्माको स्वरूपसे च्युत करने वाले हैं । इसीलिए परोपकारी आचार्यों ने भली भाँति समझा-समझाकर उपदेश दिया है कि “हे अव्यजीवो ! तुम जिस परिग्रहको अपना कहते हो और जिसके लिए तुम धर्म-अधर्म करते कुछ भी नही डरते वह रञ्चमात्र भी तुम्हारे साथ जानेवाला नही ।” श्रीगुरुके ऐसे मदुपदेशको सुनकर जिन जीवोका अच्छा होनहार है, वे भलीभाँति परीक्षापूर्वक उपर्युक्त बातों पर दृढ विश्वास (श्रद्धान) कर लेते हैं और चाहते हैं कि कब हम इन परवस्तुओके मेल से रहित होकर

निश्चल्य (सुखी) होवे। ऐसा विचारकर जो उत्तम पुरुष मुनिव्रत धरनेको समर्थ है, वे इन परिग्रहोको तृणवत् तुच्छ जान तजकर महाव्रती हो जाते हैं और जो पुरुष प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे कीचड़ (दलदल में) फसे हुए गजराजके समान इस परिग्रहके सर्वथा त्यागने को असमर्थ है, वे गृहस्थाश्रममें रहकर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यतानुसार क्षेत्र, मकान (वास्तु), चाँदी, सोना, धन (पशु), धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र, वर्तन इन दस प्रकारके परिग्रहोका प्रमाण कर लेते हैं। प्रगट रहे कि जितने अशोमे ममत्वबुद्धि (अन्तरंग परिग्रह) तथा धन, धान्यादि बाह्य-परिग्रह घटता है उतनी ही अधिक उपयोगकी स्थिरता आत्मस्वरूपमें होती है, जो पारमार्थिक रसास्वादका कारण है।

जो परिमाण वर्तमान परिग्रहको घटाकर किया जाय, वह उत्तम है। जो वर्तमान परिग्रहके बराबर ही परिमाण किया जाय वह मध्यम है तथा जो वर्तमान परिग्रहसे अधिक परिमाण किया जाय, वह जघन्य परिग्रहपरिमाणव्रत है। यद्यपि यह जघन्यभेद प्रशसनीय नहीं है तथापि हृद् (सीमा) हो जानेसे यह भी अधिक तृष्णामें पड़ने से बचाता है। तृष्णा पचपापकी उत्पादक, आकुलता-व्याकुलताकी जड़ महा दुखदाई है। अतएव तृष्णा घटाने और निश्चल्य होनेके लिए परिग्रह प्रमाण करनेसे बढ़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है, क्योंकि नीतिकारोका वाक्य है—

दोहा

गोधन, गजधन, वाजिधन, और रतन धन खान।

जब आवत सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥१॥

चाह घटी चिन्ता गई, मनुआ वे-परवाह।

जिनको कछू न चाहिए, ते शाहनपति शाह ॥२॥

यद्यपि अन्तरङ्ग मूर्छा घटानेके लिए बाह्यपरिग्रह घटाया जाता है तथापि बाह्यपरिग्रह घटानेपर भी जो मूर्छा न घटाई जाय तो प्रमत्तयोगके सद्भावसे यथार्थ परिग्रहपरिमाणव्रत नहीं हो सकता।

यहां कोई प्रश्न करे कि अर्हन्त परमेष्ठीके समवसरण, छत्र, चर्म-रादि बहुतसी अलौकिक विभूति पाइये हैं, फिर उन्हें अपरिग्रही, वीतरागी कैसे माना जाय? उसका समाधान—तीर्थंकर भगवान गृहस्थपत्ता छोड़, सम्पूर्ण परिग्रह त्याग, वीतरागी हो आत्मस्वरूप साध, परमात्मा अर्हन्त

हुए, तब उनकी पूर्वसंचित तीर्थंकर पुण्य-प्रकृतिके उदयवश यद्यपि इन्द्रादिक देवोंने समवसरण की रचना की, उनके छत्र, चमरादि मंगल द्रव्योकी योजना की, तथापि मोहके सर्वथा अभावसे उनके उस विभूतिसे कुछ भी ममत्वबुद्धि (मूर्छा) नहीं है। पुनः उनकी वीतरागताका प्रत्यक्ष नमूना यह है कि वे समवसरणस्थित सिंहासनसे अन्तरिक्ष (चार अङ्गुल अघर) विराजमान रहते हैं। इस प्रकार अन्तरंग मूर्छा और बाह्य परिग्रह रहित होनेसे वे पूर्ण वीतरागी हैं।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पंचातीचार—तत्त्वार्थसूत्रजीमे कहा है कि क्षेत्रावस्तु आदि पांच युग्म अर्थात् दण प्रकारके परिग्रहोका परिमाण बढा लेना, अथवा कोईका परिमाण घटा लेना, कोईका परिमाण बढा लेना।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमे इस प्रकार भी कहा है—(१) प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, (२) आवश्यकीय वस्तुओ का अतिसग्रह करना, (३) दूसरोका विभव देख आश्चर्य अथवा इच्छा करना, (४) अति लोभ करना, (५) मर्यादासे अधिक वीर्य लादना।

इन पंचातीचारोसे परिग्रह परिमाण व्रत सदोष होता है। इसलिए व्रत निर्दोष पालने के निमित्त इन अतीचारोको टालना चाहिए।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत की पंच भावना—बहुत पापबन्धके कारण अन्याय-अभक्ष्य रूप पांचो इन्द्रियोके विषयोका यावज्जीव त्याग करना। कर्मयोगसे मिले हुए मनोज्ञ विषयोमे अतिराग व आशक्तता नहीं करना तथा अमनोज्ञ विषयोमे द्वेष-घृणा नहीं करना।

इन भावनाओके सदा स्मरण रखनेसे परिग्रहपरिमाण व्रतमे दोष लगने रूप प्रमाद उत्पन्न नहीं होने पाता तथा व्रतमे दृढता रहती है।

सम्यक्त्वी गृहस्थ हिंसादि पंच पापोको मोक्षमार्गके साधनोका विरोधी एव विघ्नकर्त्ता जानता है, परन्तु गृहस्थाश्रममे फसे रहने के कारण विवश हो इनको सर्वथा त्याग नहीं सकता, केवल एकदेश त्याग कर सकता है। इस त्याग से लौकिक-पारलौकिक दोनो प्रकारके लाभ होते हैं।

सर्वजन ऐसे पुरुषको धर्मात्मा प्रामाणिक समझते, उसकी इज्जत करते, सर्वप्रकार सेवा सहायता करते और आज्ञा मानते हैं। उसका लोकमे यश होता है। न्याय प्रवृत्तिके कारण उसका धन्धा अच्छा चलता है, जिससे

धन सम्पदादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। जितने कुछ राजसम्बन्धी, जाति-सम्बन्धी दण्ड तथा लौकिक अपवाद हैं, वे सब इन स्थूल पञ्च पापोंके लिए ही हैं, अतएव इनका त्यागी कदापि राज एव पञ्चो द्वारा दण्डित तथा लोकनिन्द्य नहीं हो सकता, ऐसे ही पञ्च पापके त्यागी (सच्चे ब्राह्मण) शास्त्रोमे अदण्ड कहे गए हैं। शास्त्रोसे विदित होता है कि पूर्व-कालमे आर्य नृपतियोकी सभाओमे मुकदमोके फैसले होने की जगह पञ्च पाप निषेधके उपदेश दिये जाते थे। उस समयके प्रजारक्षक, राजहितैषी सर्व शुभेच्छु ऋषि, मुनि, त्यागी, ब्रह्मचारी, गृहस्थाचार्य एवं राजनीतिज्ञ पुरुष सर्व साधारणको इन दोषोंसे वचनेका उपदेश देकर राजा-प्रजाका हित करते थे। जहा तहा हरएक मतके देवालयो, मठो, धर्मशालाओ आदिमे भी इन दोषोंसे वचनेका उपदेश दिया जाता था, जिसकी थोड़ी-बहुत प्रथा अब भी अपभ्रंशरूपमे जीती-जागती दिखाई देती है। इसी कारण उस समय इन पञ्च पापोंकी प्रवृत्ति बहुत कम होती थी। उस समय भगडो का निपटारा करनेके लिए न्यायालय (अदालतों) की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, जातीय पचायते स्वयं फैसला कर लेती थी, राजा, राज प्रजा चैन करती थी।

पञ्च पापोंके स्थूल त्यागसे बहुतसी प्रमाद कषायजनित आकुलता-व्याकुलतायें घट जाती हैं, पाप-बन्ध नहीं होता और शुभ कार्यों मे विशेष प्रवृत्ति होकर सातिशय पुण्य-बन्ध होता है जिससे आगामी स्वर्गादि सुखोंकी और परम्पराय शीघ्र ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है।

सप्तशीलो का वर्णन—पहले कह ही आए हैं कि सप्तशीलोंमें तीन गुणव्रत तो अणुव्रतोंको दृढ करते, उनकी रक्षा करते और चार शिक्षाव्रत मुनिव्रतकी शिक्षा देते अर्थात् इन अणुव्रतों को महाव्रतोंकी सीमा तक पहुँचाते, उनसे सम्बन्ध कराते हैं।

सूत्रकारोंने दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, इन तीनोंको गुणव्रतोंमें तथा सामयिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभाग इन चारोंको शिक्षाव्रतों मे कहा है। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थोमे बहुधा भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रतों मे और देशव्रत (देशावकाशिक) को शिक्षाव्रतोंमे कहा है। सो इसमे आचार्योंकी केवल कथनशैलीका भेद है, अभिप्राय-भेद नहीं, क्योंकि दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण

तो आरम्भिक पञ्च पापोंकी हृद् वाधते और देशविरति तथा अतिथि-सविभाग उस हृद्को घटाते (क्षीण करते) है। सामायिक प्रोषधोपवास कुछ काल तक उन स्थूल पापों से सर्वथा रक्षा करते हैं। चारित्रपाहुडकी टीकामे कहा है कि किसी-किसी आचार्यने दिग्व्रत, अनर्थदण्ड, भोगोपभोग-परिमाण ये तीन गुणव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। सो ऐसा जान पड़ता है कि वहा दिग्व्रतमे देशविरतको गर्भित किया है अथवा भोगोपभोगपरिमाणके नियमोमे नित्य परिमाण होनेसे देशविरत (देशावकाशिक) इसमे भी गर्भित हो सकता है। वसुनन्दिश्रावकाचार मे सामायिक, प्रोषधोपवासको व्रतोमे न कहकर अलग-अलग तीसरी चौथी प्रतिमामे ही कहा है और भोगप्रमाण, उपभोग प्रमाण, अतिथिसविभाग, सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। यहांपर श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारकी पद्धतिके अनुसार इनका वर्णन किया जाता है।

तीन गुणव्रत—१ दिग्व्रत पाप (सावद्य योग) की निवृत्तिके हेतु चार दिशा—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। ४ विदिशा—आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान। १ ऊपर। १ नीचे। इस प्रकार दशो दिशाओंका प्रमाण, वन, पर्वत, नगर, नदी, देश आदि चिन्हों द्वारा करके उसके बाहिर सांसारिक विषय-कषाय सम्बन्धी कार्योंके लिए न जानेकी यावज्जीव प्रतिज्ञा करना, सो दिग्व्रत कहलाता है।

प्रमाण अपनी योग्यता विचारकर करना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि निरर्थक ही आवश्यकतासे अधिक क्षेत्रका प्रमाण न कर लिया जाय। सिवाय इसके दिग्व्रती को यह भी उचित है कि जिस क्षेत्र (देश मे) जानेसे श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र दूषित या भग होता हो, उस क्षेत्रमे भी जानेका त्याग करे।

दिग्व्रतके पचातीचार—(१) प्रमादवश मर्यादासे अधिक ऊंचा चढ़ जाना। (२) प्रमादवश मर्यादासे अधिक नीचे उतर जाना। (३) प्रमादवश समान-भूमिमे दिशा-विदिशाओंकी मर्यादाके बाहर चले जाना। (४) प्रमादवश क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना। (५) प्रमादवश की हुई मर्यादा को भूल जाना।

दिग्व्रत धारणसे अणुव्रतीको यह बड़ा भारी लाभ होता है कि अपने

आने-जाने आदि वर्तविके क्षेत्रका जितना प्रमाण किया है, उससे बाहिर क्षेत्रकी तृष्णा घट जाती है, मनमे उस क्षेत्रसम्बन्धी किसी प्रकारके विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते तथा उस त्यागे हुए क्षेत्र सम्बन्धी सर्वप्रकार त्रस-स्थावर हिसाके आस्रवका अभाव होनेसे वह पुरुष उस क्षेत्रमे महाव्रतीके समान हो जाता है। (यहा महाव्रती उपचारसे जानना। इसके प्रत्याख्या-नावरण कपायका उदय है, इसलिये यथार्थमे अणुव्रती ही है।)

२ अनर्थदण्ड-त्याग व्रत—दिशा-विदिशाओ की मर्यादापूर्वक जितने क्षेत्रका प्रमाण किया हो, उसमे भी प्रयोजन-रहित पापके कारणोसे अथवा प्रयोजन-सहित महापाप के कारणोसे (जिनसे धर्मकी हानि होती हो या जो धर्म-विरुद्ध लोकविरुद्ध जाति-विरुद्ध हो) विरक्त होना सो अनर्थदण्डत्यागव्रत है अथवा जिन कार्योंके करनेसे अपना प्रयोजन कुछ भी न सधता हो या अल्प सधता हो और जिनका दण्ड महान् हो अर्थात् नरकादि गतियोमे दीर्घ दुःख भुगतना पड़े उन अनर्थदण्डरूप क्रियाओका त्याग करना, सो अनर्थदण्डव्रत है। अनर्थदण्डके पांच भेद है—

(१) पापोपदेश—पापमे प्रवृत्ति करानेवाला तथा जीवो को क्लेश पहुचानेवाला उपदेश देना या वाणिज्य, हिसा, ठगई आदिकी कथा (कहानी) कहना, जिससे दूसरोकी पापमे प्रवृत्ति हो जाय। जैसे, किसीसे कहना कि धान्य खरीद लो, घोडा, गाडी, भैंस, ऊट आदि रख लो, वाग लगाओ, खेती कराओ, नाव चलाओ, अग्नि लगादो आदि।

(२) हिंसादान—हिंसा के उपकरण कुल्हाडी, तलवार, खता, अग्नि, हथियार, साकल आदि दूसरो को मागे देना^१, भाडेसे देना या दानमे देना तथा इनका व्यापार करना।

(३) अपध्यान—रागद्वेष से दूसरोके वध, वधन, हानि, नाश होने या करने सम्बन्धी खोटे विचार करना, परस्पर वैर याद करना आदि।

(४) दुःश्रुति-श्रवण—चित्तमे रागद्वेषके बढ़ानेवाले, क्लेश उत्पन्न करानेवाले, काम जाग्रत करानेवाले, मिथ्याभाव बढ़ानेवाले, आरम्भ परिग्रह

१ सागारधर्मामृतकी टीकामे “जिनसे व्यवहार हो उनके सिवाय किसी को न देना” ऐसा भी कहा है।

बढानेवाले, पापमे प्रवृत्ति करानेवाले तथा क्रोधादि कपाय उत्पादक शास्त्रो, पुस्तको, पत्रादिकोका पठन-पाठन करना, सुनना अथवा इसी प्रकारके किस्से-कहानी कहना ।

(५) प्रमादचर्या—विना प्रयोजन फिरना, दूसरो को फिराना । पृथ्वी-पानी-अग्नि-वनस्पति आदिका निष्प्रयोजन छेदना, भेदना, घात करना आदि ।

अनर्थदण्ड-त्याग व्रतके पंच अतीचार—(१) नीच पुरुषो सरीखे भडवचन बोलना, कामके व हसी-मसखरीके वचन कहना । (२) कार्य की भडरूप खोटी चेष्टा करना, हाथ-पाव मटकाना, मुह बनाना आदि । (३) व्यर्थ वकवाद करना या छोटी-सी बात बहुत आडम्बर बढाकर कहना । (४) विना विचारे, मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति करना । (५) अनावश्यक भोगोपभोग सामग्री एकत्र करना या उसका व्यर्थ व्यवहार करना ।

अनर्थदण्ड-विरतिमे दोष लगानेवाले इन पंच अतीचारोको छोडना चाहिये, जिससे व्रत दूषित होकर नष्ट न होने पावे ।

अनर्थदण्ड-त्याग करनेसे प्रयोजन-रहित अथवा अल्प प्रयोजन-सहित होनेवाले पापोसे बचाव होता है ।

३ भोगोपभोग-परिमाण व्रत—रागादि भावोको मद करनेके लिये परिग्रह-परिमाण व्रतकी मर्यादामे भी कालके प्रमाणसे भोग-उपभोगका परिमाण करना, अधिक सेवनकी इच्छा न करना, सो भोगोपभोग-परिमाण व्रत है ।

जो वस्तु एक बार भोगनेके बाद, फिर दुबारा भोगने योग्य न हो, उसे भोग कहते हैं । जैसे—भोजन, पान, सुगन्ध पुष्पादि ।

जो वस्तु बार-बार भोगने योग्य हो, उसे उपभोग कहते हैं । जैसे—स्त्री, आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन, मकानादि ।

भोगोपभोगका परिमाण यम-नियम रूप दो प्रकारसे होता है । याव-ज्जीवन त्याग, यम और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि कालकी मर्यादा रूप त्याग नियम कहलाता है ।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत धारण करने में नीचे लिखी बातों पर ध्यान देना चाहिये—

(१) जिन वस्तुओं के भक्षण करने में त्रसजीवों की हिंसा की शका हो या जिनके आश्रय त्रसजीव रहते हो, उनका भक्षण तजे। जैसे बेर, नीम-केवड़ा-केतकी-गुलावादिके पुष्प तथा ऋतु बदलने पर या वर्षा ऋतु में पत्तीदार भाजी न खावे।

(२) ऐसे भोगोपभोग तजे, जिनमें एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा अधिक और जिह्वा की लपटता अल्प हो। जैसे कन्दमूलादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियों का भक्षण।

यहां प्रकरणानुसार वनस्पति विषयक संक्षिप्त विवरण कहा जाता है—

वनस्पतिके सामान्य रीतिसे दो भेद हैं। साधारण और प्रत्येक। जिस एक वनस्पति शरीरके अनंत जीव स्वामी हो, वह साधारण वनस्पति कहाती है। जिस एक वनस्पति शरीरका एक ही जीव स्वामी हो, वह प्रत्येक वनस्पति कहाती है। इस प्रत्येकके दो भेद हैं।

(क) अप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका एक स्वामी हो तथा जिसके आश्रय कोई भी निगोद शरीर न हो। इसकी पहिचान—जिसमें रेखा-गांठे सधिये प्रत्यक्ष दिखती हो, जिसमें तनु हो, और जो तोड़ने पर समभग न टूटे, टेढ़ी-वांकी टूटे।

(ख) सप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो तथा अनंत साधारण निगोद जीव जिसके आश्रय रहते हो। इसकी पहिचान—जिनमें रेखाये, गांठे प्रगट न हुई हो और तोड़ने पर तन्तु न लगे रहे, जो समभग टूटे।

फल, पुष्प, वृक्ष आदि उत्पत्ति समय अतर्मुहूर्त तक निगोद रहित अप्रतिष्ठित ही रहते हैं। पीछे उनमें निगोद जीव उत्पन्न होने लगते हैं। जब तक उनमें घर-तनु-शिरा-सधि स्पष्ट न हो या वे तोड़ने से बराबर टूटें, तब तक सप्रतिष्ठित रहते हैं, जब ये लक्षण प्रगट हो जाय, तब उनमें के निगोद जीव निकल जानेसे वही अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं।

इस प्रकार साधारण सहित प्रत्येक अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येकके^१ भक्षणमे जीवहिंसा बहुत होती है, तथा कद-मूलादि वनस्पति तो प्रायः साधारण निगोद सहित सप्रतिष्ठित ही सदा रहती है।^२ काकडी, तोरई, नारंगी, नीबू आदि फलो, तरकारियो या पुष्पोमे गिरा-तनु आदि निकलने-पर वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं। हा, यह बात दूसरी है कि इनमे किसीके आश्रय त्रस जीव रहते हो।

बहुतसे साधारण जैनी-गृहस्थ, आखडी रूपसे अथवा भोगोपभोग-प्रमाण व्रत धारक धार्मिक व्रती गृहस्थ, आरम्भ, हिंसा इन्द्रियोके दर्प तथा मनके सकल्प-विकल्पोके घटाने एव जिह्वाइन्द्रियका विषय घटानेके लिये अठाई, दशलक्षण, रत्नत्रय, सोलह कारण, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पवित्र दिनो (पर्वो) मे हरी वनस्पतिया भक्षण करना छोड़ देते हैं। यदि कर्मयोग-से सूखी तरकारीकी प्राप्ति हो जाय, तो खाते हैं। उनको कोई भाई यह कहकर भ्रममे डालते हैं कि जब पचमी प्रतिमावाला भी हरीको सिंभाकर (अचित्त करके) खा सकता है, तो तुम हरी खाना क्यों त्यागते हो? सिंभाकर तुम भी क्यों नहीं खाते? सो ऐसे भाइयो को विचारना चाहिये कि त्याग करनेवालोने सचित्त-अचित्तके खयालसे (पाचवी प्रतिमावालोकी तरह) त्याग नहीं किया, हरीके खयालसे त्याग किया है, इसलिए वे हरीको सिंभाकर या लवणादि मिलाकर नहीं खा सकते।

(३) प्रकृतिविरुद्ध भोगोपभोग तजे, अर्थात् जिन पदार्थों के भक्षण या उपभोग करनेसे अपनेको रोग तथा क्लेश होता हो, उनका सेवन छोड़े।

(४) अनुपसेव्य अर्थात् उत्तम जाति-कुल-धर्मके विरुद्ध भोगोपभोग छोड़े। जैसे शूद्रका छुआ हुआ तथा अशुद्ध स्थान मे रक्खा हुआ भोजन। चूके वाहरकी रोटी, दालादि रसोई। कुत्ता-कौआ आदि क्रूर, हिंसक पक्षियोका स्पर्श या भूठा किया हुआ भोजन। मनुष्योकी भूठन आदि। म्लेच्छो सरीखा पहिनाव-उढाव, रहन-सहन आदि।

१ इस सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनन्त साधारण निगोद जीवोयुक्त होनेसे साधारण भी कहते हैं।

२ एक वृक्षमे वृक्षभरका स्वामी एक जीव तथा फूल, पत्ते, फलादिके स्वामी अलग-अलग जीव भी होते हैं।

(५) बुद्धिको विकाररूप एव विपर्यय करनेवाली प्रमादजनक भाग-
तमाखू-गांजा आदि नशीली वस्तुओंका भक्षण तजे ।

(६) घर्म (चारित्र) को हानि पहुचाने वाली विदेशी अज्ञात और
अपवित्र औषधि आदि पदार्थोंका भक्षण तजे । इसी प्रकार अधिक हिंसाके
घघे, जिनमे निर्दयता अधिक और लाभ थोडा हो, करना तजे । अयोग्य
भोगोपभोगोंको सर्वथा तजे तथा योग्य भोगोपभोगोंका परिमाण करे । इसके
लिए आचार्योंने ग्रन्थोमे नित्य १७ नियम करनेका उपदेश दिया है ।

श्लोक

१ २ ३ ४
भोजने पट्रसे पाने कु कुमादिविलेपने ।
५ ६ ७ ८ ९
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥
१० ११ १२ १३ १४ १५
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने ।
१६ १७
सचित्तवस्तुसख्यादे प्रमाण भज प्रत्यह ॥

अर्थ

(१) आज इतने वार भोजन करूंगा, (२) छह रसो (दूध, दही,
घी, शक्कर-गुड आदि मीठा, लौन (नमक), तेलमे से इतने रस खाऊंगा,
(३) गर्वत या जलपान इतने वार करूंगा, (४) चन्दन, केशर आदि का
तिलक, तेल या कुकमादिका विलेपन इतने वार करूंगा, (५) पुष्प इतने
प्रकारके और इतनी वार सूँघूंगा, (६) पान-सुपारी-इलायची आदि स्वाद्य
पदार्थ इतने वार खाऊंगा, (७) गीत सुनूंगा या नहीं, (८) नृत्य देखूंगा या
नहीं, (९) आज ब्रह्मचर्यसे रहूंगा या नहीं, (१०) आज इतने वार स्नान
करूंगा, (११) आभूषण (जेवरात) इतने और अमुक-अमुक पहिन्तूंगा ;
(१२) वस्त्र इतने और अमुक-अमुक पहिन्तूंगा, (१३) गाड़ी-घोडा-तांगा,
रेल, मोटर-वाइसकिल आदि अमुक-अमुक सवारी करूंगा, (१४) विस्तर-
पलंग आदि इतने और अमुक-अमुकपर शयन करूंगा, (१५) बेच, कुरसी,
आराम कुरसी, तखत, गादी आदि अमुक-अमुक और इतने आसनो पर
बैठूंगा, (१६) सचित्त (हरी तरकारी) आज इतने खाऊंगा, (१७) अन्यान

वस्तुए इतनी रखू गा^१ ।

इस प्रकार १७ नियम नित्य प्रातःकाल सामायिक किये पीछे ले—
और पहिले दिन लिए हुआ को सभाले, यदि किसी में दोष लगा हो, तो उस
का शोधन करे, प्रायश्चित्त ले ।

भोगोपभोग-परिमाण व्रतके पंच अतीचार—(१) विषय-भोगोमें प्रीति
करना, हर्ष मानना । (२) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगोका स्मरण करना ।
(३) वर्तमान भोग भोगनेमें अति लम्पटता रखना । (४) भविष्यमें भोग
प्राप्तिकी अति तृष्णा करना । (५) विषय न भोगनेपर भी विषय भोगने
सरीखा अनुभव करना ।

इन अतीचारोंके लगनेसे भोगोपभोग-परिमाण व्रत मलीन होकर
क्रमशः नष्ट हो जाता है इसलिये ये अतीचार वचाना चाहिए ।

भोगोपभोगो के यम-नियम रूप परिमाण करनेसे विषयोकी अधिक
लम्पटता तथा वाछा घट जाती है, जिससे चित्तकी चंचलता कम पड़ती और
स्थिरता बढ़नेसे धर्मध्यान में चित्त अच्छी तरह लगता है ।

चार शिक्षाव्रत—१ देशावकाशिकव्रत—दिग्व्रत द्वारा यावज्जीवन प्रमाण
किये हुये क्षेत्रको कालके विभागसे घटा-घटा कर त्याग करना, सो देशव्रत
कहाता है । जितने क्षेत्रका यावज्जीवके लिये प्रमाण किया है, उतने में नित्य
गमनागमनका काम तो पड़ता ही नहीं, अतएव जितने क्षेत्रमें व्यवहार करने
से अपना आवश्यकीय कार्य सधे, उतने क्षेत्रका प्रमाण दिन, दो दिन, सप्ताह,
पक्ष, मासके लिए स्पष्ट रूपसे कर ले, शेषका त्याग करे, जिससे बाहरके
क्षेत्रमें इच्छा का निरोध होकर द्रव्य-भाव हिंसासे रक्षा हो ।-

देशव्रतके पंचातीचार—(१) मर्यादाके क्षेत्रसे बाहर किसी मनुष्य या
पदार्थको भेजना । (२) मर्यादासे बाहरके पुरुषको शब्द द्वारा सूचना
देना । (३) मर्यादासे बाहरका माल मंगाना । (४) मर्यादासे बाहरके
पुरुषको अपना रूप दिखाकर या इशारेसे सूचना देना । (५) मर्यादासे
बाहरके पुरुषको ककर, पत्थर आदि फेंककर चेतावनी कराना ।

१ किसी-किसी ग्रन्थ में सत्रहवा नियम यह लिखा है कि दशो दिशाओ में
इतनी-इतनी दूरतक गमन करू गा ।

दिग्ब्रतके प्रमाणमेंसे जितना क्षेत्र देशव्रतमें घटाया जाता है उतने क्षेत्र सम्बन्धी गमनागमनका सकल्प-विकल्प तथा आराम सम्बन्धी हिंसादि पापोंका अभाव हो जाता है, जिससे देशव्रतीकी त्यागे हुए क्षेत्रमें उपचार-महाव्रतीके समान प्रवृत्ति रहती है ।

२ सामायिक शिक्षाव्रत—मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे, मर्यादा तथा मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें नियत समय तक हिंसादि पंच पापोंका सर्वथा त्याग करना, रागद्वेष रहित होना, सर्व जीवोंमें समता भाव रखना, समय में शुभ भावना करना, आर्त्त, रौद्र भाव का त्याग करना सो सामायिक शिक्षाव्रत कहाता है ।

सामायिककी निरुक्ति एवं भाव इस प्रकार है कि 'सम' कहिये एकरूप होकर, 'आय' कहिए आगमन अर्थात् पर द्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में उपयोगकी प्रवृत्ति होना । अथवा 'सम' कहिए रागद्वेष रहित, 'आयः' कहिये उपयोगकी प्रवृत्ति सो सामायिक है । अर्थात् साम्यभावका होना सो ही सामायिक है । यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे छह प्रकार है । यथा इष्ट, अनिष्ट नामोंमें रागद्वेष न करना । मनोहर, अमनोहर स्त्री-पुरुषादिकी काष्ठ, पाषाणादिकी स्थापनामें रागद्वेष न करना । मनोज्ञ-अमनोज्ञ, नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रोंमें रागद्वेष न करना । वसत, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल-कृष्ण पक्ष आदि कालोंमें रागद्वेष न करना । जीवोंके शुभाशुभ भावोंमें रागद्वेष न करना । इस प्रकार साम्यभावरूप सामायिकके साधनके लिए बाह्यमें हिंसादि पंच पापोंको त्याग करना और अंतरंगमें इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंसे रागद्वेष त्यागकी भावना करना आवश्यक है, क्योंकि इन विरोधी कारणोंके दूर करने और अनुकूल कारणोंके मिलानेसे ही साम्यभाव होता है । साम्यभाव होने पर ही आत्म-स्वरूपमें चित्त मग्न होता है, जो सामायिक धारण करनेका अंतिम साध्य है ।

जब सामायिक (१) योग्यद्रव्य (पात्र), (२) योग्य क्षेत्र, (३) योग्य काल, (४) योग्य आसन, (५) योग्य विनय, (६) मन शुद्धि, (७) वचन शुद्धि, (८) कार्यशुद्धिपूर्वक की जाती है तभी परिणाम में शांति-सुखका अनुभव होता है । यदि इन बाह्य कारणोंकी योग्यता-अयोग्यतापर विचार न किया जाय तो सामायिकका याथार्थ्य फल प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है ।

(१) योग्य द्रव्य (पात्र)—सामायिकके पूर्ण अधिकारी निर्ग्रन्थ मुनि-राज ही है। उन्हीके सामायिक सयम होता है, क्योंकि उन्होंने पचेन्द्रियोको वगकर अन्तरंग कपायो को निर्वल कर डाला है, बाह्य परिग्रहोको तज, षट्-कायकी हिसाको सर्वथा त्याग कर दिया है, जिससे उनके सदाकाल समभाव रहता है। श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी^१) केवल नियत काल तक सामायिककी भावना भावनेवाला सामायिक ब्रती या नियत काल तक समता भाव धरनेवाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सकता है। —जिस सामायिक द्वारा मुनि गुडोपयोगको प्राप्त होकर, सवरपूर्वक कर्मोंकी निर्जरा करते और समस्त कर्मोंका क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसी सामायिक के प्रारम्भिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य वध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परम्पराय मोक्षके पात्र हो सकते हैं।

(२) योग्य क्षेत्र—जहा कलकलाट शब्द न हो, लोगोका सघट्ट (भीड़-भाड़) न हो, स्त्री, पुरुष, नपुसकका आना, जाना, ठहरना न हो, गीत-गान आदि की निकटता न हो, डास, माछर, कीड़ी आदि बाधाकारक जीव-जन्तु न हो, अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्त को क्षोभ उपजाने-वाले तथा ध्यान से डिगानेवाले कारण न हो, ऐसे उपद्रव रहित-वन, घर, धर्मशाला-मन्दिर वा चित्त-शुद्धिके कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र आदि—एकान्त स्थान ही सामायिक करने योग्य हैं।

(३) योग्य काल—प्रभात, मध्याह्न, सध्या इन तीनों समय उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी योग्यतानुसार सामायिकका काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समयमें सामायिक करने के लिए कोई निषेध नहीं है। सवेरे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी, रातसे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी दिन चढ़े तक। मध्याह्नको ३।२।१ घड़ी पहिलेसे ३।२।१ घड़ी पीछे तक। सध्याको ३।२।१ घड़ी पहिले से ३।२।१ घड़ी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है इन समयोंमें परिणामोकी विशुद्धता विशेष रहती है।

^१ सागारधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें ब्रत-प्रतिमासे ही गृहस्थ गृहत्यागी दो भेद कहे गये हैं। अर्थात् कोई कोई श्रावक ऐसे भी होते हैं कि जो ब्रत प्रतिमा धार, गृह छोड़, विचरते हुये, धर्मसाधनमें तत्पर रहते हैं, वे ब्रतप्रतिमाधारी गृहत्यागी कहलाने हैं।

कई ग्रन्थोमे सामायिक काल सामान्य रीतिसे ६ घडी कहा गया है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी सस्कृत टीका और दौलत क्रियाकोषमे तीनों समय मिलाकर भी ६ घडी कहा है। श्री धर्मसारजीमे जघन्य २ घडी, मध्यम ४ घडी और उत्कृष्ट ६ घडी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रतमे जघन्य दो घडी से लेकर उत्कृष्ट ६ घडी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिक का काल है।

(४) योग्य आसन—काष्ठके पट्टियेपर, गिलापर, भूमिपर या वालू-रेतमे पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके पर्यकासन (पद्मासन) बाधकर या खड़े होकर (खड्गासन) अथवा अर्धपद्मासन^१ या पालथी मारकर, इनमेसे जिस आसनसे शरीरकी थिरता, परिणामो की उज्ज्वलता नियत काल तक रहना सभव हो, उसी आसनसे क्षेत्रका प्रमाण करके इन्द्रियोके व्यापार वा विषयोसे विरक्त होते हुए, केश, वस्त्रादिको अच्छी तरह बाधकर (जिसमे उनके हिलनेसे चित्तमे क्षोभ न हो) हस्ताजली जोड़, स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठोका, पञ्च-परमेष्ठीका अथवा अपने स्वरूपका चितवन करे और उसमे लीन हो।

(५) योग्य विनय—सामायिक के आरम्भमे पृथ्वी को कोमल वस्त्र या पूजणी (अमाडीकी कोमल बुहारी) से बुहार (प्रतिलेपन) कर ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक खड़ा होवे, क्षेत्रकालका प्रमाण करे तथा ९ बार णमोकार मन्त्र पढ़ हाथ जोड़ पृथ्वी पर मस्तक लगाकर नमस्कार करे। पश्चात् चारो दिशाओमे नव-नव बार णमोकार मन्त्र कहकर तीन-तीन आवर्त (दोनों हाथकी अजुली जोड़ दाहिने हाथकी ओरसे तीन बार फिराना) और एक-एक शिरोनति (दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार) करे। पीछे खड़े हो या बैठकर योग्य आसनपूर्वक णमोकार मन्त्र का जाप्य करे, पञ्च-परमेष्ठी के स्वरूप का चितवन करे सामायिक पाठ^२ पढ़े, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षाओका

१ अर्ध-पद्मासन श्रीज्ञानार्णवजीके धर्मध्यान अधिकार मे कहा है परन्तु उसका स्वरूप नहीं कहा। दक्षिण प्रान्तमे बहुत-सी प्रतिमायें ऐसे आसनयुक्त हैं कि जिनके दाहिने पावकी पगतली ऊपर और बायें पावकी पगतली नीचे हैं, लोग उसे अर्धपद्मासन कहते हैं।

२ सस्कृत-प्राकृत पाठ यदि अपनी समझमे न आता हो, तो भाषा पाठ ही समझ-समझकर, मनन करता हुआ पढ़े, जिससे भावोमे विशुद्धि उत्पन्न हो।

चितवन करे तथा आत्मस्वरूपके चितवन पूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे ।

सामायिक पाठके ६ अंग हैं । (१) प्रतिक्रमण—अर्थात् जिनेन्द्र देवके सन्मुख अपने द्वारा हुए पापों की क्षमा-प्रार्थना करना । (२) प्रत्याख्यान—आगामी पाप त्यागकी भावना करना । (३) सामायिक कर्म—सामायिकके काल तक सब में ममताभाव त्याग, समताभाव धरना । (४) स्तुति—चौबीसो तीर्थंकरोंका स्तवन करना । (५) वन्दना—किसी एक तीर्थंकरका स्तवन करना । (६) कायोत्सर्ग—कायसे ममत्व छोड़ आत्मस्वरूपमें लवलीन होना ।

इस प्रकार समभाव पूर्वक चितवन करते हुए जब काल पूरा हो जाय, तब प्रारम्भकी तरह श्रावर्त्त, शिरोनति तथा नमस्कार पूर्वक सामायिक पूर्ण करे ।

(६) मन शुद्धि—मनको शुभ तथा शुद्ध विचारों की तरफ भुकावे, आर्त-रौद्र ध्यानमें दौड़ने से रोककर धर्मध्यान में लगावे । जहां तक संभव हो पंच परमेष्ठीका जाप्य वा अन्य कोई भी पाठ, वचनके बदले मनसे स्मरण करावे, ऐसा करनेसे मन इधर-उधर चलायमान नहीं होता ।

(७) वचन शुद्धि—हुकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझमें आवे, उसी प्रकार समानवृत्ति एवं मधुरस्वरसे शुद्ध पाठ पढ़े, धर्म-पाठ सिवाय कोई और वचन न बोले ।

(८) काय शुद्धि—सामायिक करनेके पहले स्नान करने, अंग अंगौछने, हाथ-पाव धोने आदिसे जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचार पूर्वक शरीर पवित्र करके, पवित्र वस्त्र पहिन सामायिकमें बैठे और सामायिकके समय शिरकप, हस्तकप अथवा शरीर के अन्य अंगोंको न हिलावे-डुलावे, निश्चल अंग रखे । कदाचित् कर्मयोगसे सामायिकके समय चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, तो भी मन-वचन-कायको चलायमान नहीं करता हुआ सहन करे ।

यहां कोई प्रश्न करे कि सामायिकके समय अचानक लघुशका इत्यादिकी तीव्र वाधा आ जाय तो क्या करना चाहिये ? उसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषोंका खान-पान नियमित होनेसे उनको

इस प्रकारकी अचानक बाधा होना संभव नहीं। कदाचित् कर्मयोग से ऐसा ही कोई कारण आ जाय, तो उसका रोकना या सहन असंभव होनेसे उस कामसे निपटकर, प्रायश्चित्त ले, पुन सामायिक स्थापन करे।

सामायिक के पंच अतीचार—(१-२-३) मन, वचन, कायको अशुभ प्रवर्तना^१। (४) सामायिक करनेमें अनादर करना। (५) सामायिकका समय वा पाठ भूल जाना।

अतीचार लगनेसे सामायिक दूषित होती है। अतएव ऐसी सावधानी रखनी चाहिये, जिससे अतीचार दोष न लगे।

सामायिक के समय क्षेत्र तथा कालका परिमाण करके गृहव्यापार आदि सर्व-पाप योगो का त्याग कर देने से सामायिक करनेवाले गृहस्थके सब प्रकार पापास्रव रुककर सातिशय-पुण्य का वध होता है। उस समय वह उपसर्गमें ओढ़े हुए कपड़ो युक्त मुनिके समान होता है। विशेष क्या कहा जाय अभव्य भी द्रव्य-सामायिकके प्रभाव से नवम-अवेयिक पर्यंत जाकर अहमिन्द्र हो सकता है। सामायिकको भावपूर्वक धारण करनेसे शांति-सुख की प्राप्ति होती है। यह आत्मतत्त्व की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा होनेके लिये मूल कारण है। इसकी पूर्णता ही जीवको निष्कर्म-अवस्था प्राप्त कराती है।

३ प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत—अष्टमी-चतुर्दशीके दिन सर्वकाल धर्म-साधनकी सुवाछा से सम्पूर्ण पापारभोसे रहित हो, चार प्रकार आहारका त्याग करना सो प्रोषधोपवास कहलाता है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है कि प्रोषध कहिये एक वार आहार अर्थात् धारणा^२ और पारणा^३ के दिन

१ असावधानीसे मनकी प्रवृत्ति - क्रोध, मान, माया, लोभ, द्रोह, ईर्ष्या, इन्द्रिय विषय तृप्त होना। वचन की प्रवृत्ति—अस्पष्ट-उच्चारण, बहुत ठहर-ठहर कर वा अति शीघ्रता पूर्वक पाठ पढ़ना। कायकी प्रवृत्ति—हस्त-पादादि शरीरके अंगोंका निश्चल न रखना।

२ धारणा—उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करनेका दिन अर्थात् पूर्वदिन।

३ पारणा—उपवास पूर्ण करके भोजन करनेका दिन अर्थात् अगला दिन। सामान्य गृहस्थोको दिनमें दो वार भोजन करने का अधिकार है। प्रोषधोपवास में धारणा-पारणाके दिन एक-एक वार और उपवासके दिन दो वारका भोजन त्यागनेसे इसे चतुर्थ सज्ञा भी है।

एक वार भोजन करना तथा उपवास कहिये अष्टमी-चतुर्दशी पर्वको निराहार रहना—भोजनका त्याग करना । इस प्रकार एक पक्षमें अष्टमी-चतुर्दशी दोनों पर्वोंमें चार प्रकार आहार त्याग, धर्मध्यान करना सो प्रोषधोपवास कहाता है । राजवार्तिकमें प्रोषध नाम पर्व का कहा है, तदनुसार पर्वमें इन्द्रियोके विषयसे विरक्त रहकर चार प्रकार आहार त्याग करना सो ही प्रोषधोपवास है ।

प्रतिदिन अगीकार किये हुये सामायिक-सस्कारको स्थिर करके सप्तमी एवं त्रयोदशी के दोपहर से [भोजन उपरान्त] समस्त आरम्भ-परिग्रहसे ममत्व छोड़ देव-गुरु-शास्त्रकी साक्षी पूर्वक प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञा ले, निर्जन-वसतिका (कुटी, धर्मशालादि) को प्राप्त होवे और सम्पूर्ण सावद्य-योग त्याग, इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त होता हुआ, मन-वचन-कायकी गुप्ति सहित, नियतकाल तक व्रतविधानकी शुभेच्छासे चार प्रकार^१ आहारका त्याग करे ।

बहुधा ग्रन्थोमें प्रोषधोपवासका काल १६ प्रहर कहा है । धर्मसार ज्ञानानन्द श्रावकाचार तथा दौलत ब्रियाकोपमें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १४ प्रहर और जघन्य १२ प्रहर कहा है । स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १२ प्रहर और जघन्य ८ प्रहर कहा है । परन्तु भोजन त्याग अपेक्षा प्रोषधोपवास १२ प्रहरसे कम संभव नहीं है क्योंकि प्रोषधव्रती रात्रि-भोजनका सर्वथा त्यागी है । हा, आठ प्रहरका उपवास पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा संभव हो सकता है । क्योंकि उसके रात्रिको औषधि, जल तथा स्वाद्य (पान, इलायची आदि) भक्षण करने सम्बन्धी अतीचार दोष लगना सम्भव है, इससे वह उपवासके दिन ही प्रातःकाल प्रतिज्ञा करे तो दूसरे दिनके सुबह तक आठ प्रहरका उपवास हो सकता है । अथवा व्रती भी यदि उपवासके प्रातःकाल ही प्रतिज्ञा ले, तो प्रतिज्ञा अपेक्षा

१. चार प्रकार आहार के भेद (१) खाद्य—रोटी, दाल, चावल, पूड़ी आदि कच्ची-पक्की रसोई । (२) स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मसाला । (३) लेह्य—खड़ी आदि चाटने योग्य वस्तु । (४) पेय—दूध, पानी, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ । अथवा (१) असन—दाल, भात, रोटी आदि कच्ची रसोई या नित्य भोजनमें आने-वाली पक्की रसोई । (२) पान—पानी, दूध, खड़ी, शर्बत आदि पेय वस्तु । (३) खाद्य—मोदक, कलाकंद आदि जो कभी-कभी खानेमें आते हैं । (४) स्वाद्य—इलायची, पान, सुपारी, मसालादि ।

सुबह से सुबह तक ८ प्रहर का उपवास सम्भव हो सकता है ।

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषधोपवास तीन प्रकार कहा है ।
(१) उत्तम—१६ प्रहर निराहार (२) मध्यम—जल सिवाय तीन प्रकार आहारका त्याग (३) जघन्य—जिसमें आमिल लेना अर्थात् एक अन्न पकाकर खाना और प्राशुक जल पीना अथवा मीठा न डालकर कोई एक अन्न खाना या एक स्थानमें बैठकर एक ही वार भोजन करना । परन्तु तीनों प्रकारोंमें धर्मध्यान सोलह प्रहर तक ही करना ।

सकलकीर्ति श्रावकाचार में कहा है कि प्रोषधोपवासके दिन गर्म (प्राशुक) जल लेनेसे उपवासका आठवा भाग रह जाता है, कषायला जल लेनेसे अनुपवास होता और अन्न मिश्रित जल लेनेसे उपवास भग्न हो जाता है ।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है कि उपवासके काल में जलकी १ बूंद भी ग्रहण न करना चाहिये ।

इन उपर्युक्त आधारोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि प्रोषधोपवास प्रतिमामें तो उत्कृष्ट १६ प्रहरका उपवास कर धर्मध्यान कर्तव्य है । और व्रतप्रतिमामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार अपनी शक्ति देखकर उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य जैसा योग्य हो, प्रोषध-व्रत करे ।

प्रोषधोपवासके दिन स्नान, अजन, विलेपन, शृंगार नहीं करे । पाव नहीं दबवावे । नवीन भूषण नहीं पहिने । कोमल शय्या तथा पलगपर शयन नहीं करे । स्त्री-ससर्ग, आरम्भ, पुष्प, गीत, वादित्र, नृत्य^१, सुगन्ध, दीप, धूपादिके प्रयोग तजे, फल-फूल-कोपल-छेदन आदि स्थावर-हिंसा न करे । आलस्य रहित, धर्मका अति लालची होता हुआ धर्म-शास्त्रोंका स्वाध्याय श्रवणादि करे-करावे, ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहे ।

प्रोषध-व्रत करनेकी रीति यह है कि उपवासके धारणके दिन साधारण भोजन करे, ऐसा न विचारे कि कल उपवास करना है इसलिये गरिष्ठ या अधिक भोजन करूं । पश्चात् प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञा कर पठन-पाठन, सामा-यिकादि धर्मकार्य करे, रात्रिको निद्रा जीतता हुआ पवित्र सथारेपर अल्प निद्रा ले और पठन-पाठनादि धर्म-ध्यान करता रहे । उपवासके दिन प्रातःकाल

१. दीप धूपादि चढ़ानेका वा धर्म सम्बन्धी गीत, नृत्य, वादित्र, तिलक करने आदिका निषेध नहीं ।

सामायिक करने पीछे प्राशुक जलसे प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओंसे निवृत्त हो, प्राशुक द्रव्योंसे जिनेश्वर देव की पूजन करे^१। दिन तथा रात्रि सामायिक, धर्म-चर्चा, स्वाध्याय, पाठादिमें व्यतीत करे। उपवासके दूसरे दिन भी दोपहर तक पूजन स्वाध्याय आदि धर्मध्यान करे। पश्चात् पात्रदान पूर्वक नियमित शुद्ध भोजन करे, लोलुपतावश धर्म-ध्यानको भुलानेवाला प्रमाद तथा उन्मादको उत्पन्न करनेवाला गरिष्ठ अथवा अधिक भोजन न करे, क्योंकि प्रोषघोपवास करनेका मुख्य प्रयोजन तो यही है कि जिसमें परिणाम निर्मल, धर्म-ध्यान रूप, शांत और उत्साहरूप रहे। गिथिल, आलसी, उन्मादरूप न हो तथा क्षुधादि परीषह सहनेका अभ्यास पड़ जानेसे आगे मुनिव्रतमें परीषह आने पर समभाव बने रहे।

प्रोषघोपवासमें समस्त आरम्भोका त्याग कहा है, इससे पाप क्रिया-सम्बन्धी आरम्भोंका ही निषेध जानना, धार्मिक कार्योंका नहीं। तो भी पूजनके लिए शरीरकी पवित्रता (स्नान), तिलक, गान-भजन, नृत्यादि सभी धर्म-कार्य बहुत यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये, जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पापका अश भी न आने पावे।

जो स्त्री व पुरुष उपवास धारण करके गृहकार्यके मोहवश गृहस्थी-सम्बन्धी पापारम्भ करते अथवा जो दूसरोंकी देखादेखी या कषायवश उपवास ठान, सक्लेश-परिणामयुक्त रोगीवत् काल गवाते हैं, केवल शरीरको शोषण करते हैं, उनके लेशमात्र भी कर्म हलके नहीं पड़ते। गृहस्थको उपवासके दिन आरम्भ, विषय-कषाय एवं आहारका त्याग करके धर्म सेवन करनेसे ही पुण्यबंधके साथ-साथ सवरपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिये बुद्धिमान् गृहस्थोंको इसी प्रकार उपवास करना योग्य है।

१ धर्म नग्न श्रावकाचारमें प्रोषघ-व्रतमें लिखा है कि उपवासके दिन अष्ट द्रव्योंसे पूजन करे। दौलत क्रियाकोषादि कई ग्रन्थों में धारणे-पारणके दिन पूजन करना और उपवास के दिन ध्यान-स्वाध्याय करना ही कहा है। सागारधर्मांशमें कहा है कि प्रोषघ-व्रती भावपूजन करे तथा प्राशुक (निर्जन्तु) द्रव्योंसे द्रव्यपूजन भी करे। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें उपवास के दिन प्राशुक द्रव्य से पूजन करना लिखा है। इन सबसे यही तात्पर्य निकलता है कि प्रोषघोपवासके दिन ध्यान-स्वाध्यायकी मुख्यता-पूर्वक, सावधानीसे प्राशुक द्रव्यों द्वारा यदि कोई चाहे तो पूजन भी करे, न चाहे तो न करे, ध्यान-स्वाध्याय अवश्य ही करे^२।

प्रोषधोपवासके पांच अतीचार : (१) विना देखे-शोधे पूजाके उपकरण, शास्त्र, सस्तरादि ग्रहण करना ।

(२) विना देखे-शोधे मल-मूत्रादि मोचन करना ।

(३) विना देखे-शोधे सस्तर (बिछौना) बिछाना ।

(४) भूख, प्यासके क्लेशसे उत्साहहीन होकर उपवासमे निरादररूप परिणाम करना ।

(५) उपवास योग्य क्रियाओंका भूल जाना ।

इन उपर्युक्त अतीचारोके लगनेसे प्रोषधोपवास मलिन होता है अतः एव इन दोषोको सदा ध्यानमे रख कर दोषोसे रक्षा करनी चाहिये ।

प्रोषधोपवासके दिन भोगोपभोग एव आरम्भका त्याग करनेसे हिंसाका लेश भी नहीं होता । वचन गुप्ति होने (मौनावलम्बी रहने) अथवा आवश्यकतानुसार धर्मरूप अल्पभाषण करनेसे असत्यका दूषण नहीं आता । अदत्तादानके सर्वथा त्यागसे चोरीका दोष नहीं आता । मैथुन के सर्वथा त्यागसे ब्रह्मचर्य व्रत पलता और शरीरादि परिग्रहोसे निर्ममत्व होनेसे परिग्रह-रहितपना होता है । इसलिये प्रोषधोपवास करने वाला गृहस्थ उस दिन सर्व सावद्ययोगके त्याग होनेसे उपचार महाव्रती है । प्रोषधोपवासके धारण करनेसे शरीर नीरोग रहता है, शरीरकी शक्ति बढ़ती है । सातिशय पुण्यबन्ध होकर उत्कृष्ट-सांसारिक सुखोकी प्राप्तिपूर्वक पारमार्थिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्ति होती है ।

४ अतिथि—संविभाग शिक्षाव्रत—दाता, पात्र दोनोके रत्नत्रय धर्मकी वृद्धिके निमित्त सम्यक्त्वादि गुणोयुक्त गृहरहित साधु-मुनि आदि पात्रोका प्रत्युपकाररहित अर्थात् बदलेमे उपकारकी वाछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो अतिथिसंविभाग या सत्पात्रदान कहाता है ।

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञानकी सिद्धिके निमित्तभूत शरीरकी स्थितिके लिये, विना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुए, विना तिथि निश्चय किये श्रावकोके गृह भोजन निमित्त आवे, सो अतिथि कहाते हैं । यह वृत्ति अठ्ठाईस मूलगुणधारी मुनियोमे तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक-क्षुल्लकोमे पाई जाती है, क्योंकि इनके स्थिति एव विहार करनेकी तिथि निश्चित नहीं रहती । ऐसे उत्तम पात्रोको द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा-भक्ति पूर्वक अपने भोजनमेसे विभागकर आहार औषधि, पात्रादि दान देना ।

यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथिका सयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियोका यथायोग्य आदरपूर्वक चार प्रकार दान द्वारा वैयावृत्य करना या दुखितो व भूखोको करुणावुद्धिपूर्वक दान देना, यह सब अतिथि-सविभाग है।

धर्मसाध्यकी सिद्धिके लिये आगममें चार प्रकारके दान निरूपण किये गये हैं - (१) औषधिदान (२) शास्त्रदान (३) अभयदान (४) आहारदान।

योग्य पात्रको आहारदान-औषधि-शास्त्र (ज्ञान) तथा अभयदानमेंसे जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उस समय उसी प्रकारका दान देना योग्य है। इससे दातार तथा पात्र दोनोंके रत्नत्रयकी प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है इसी कारण ऐसा दान सत्पात्र-दान या सुदान कहाता है। पात्र, दातार, द्रव्य, तथा देनेकी विधिके भेदसे दानके फलमें विशेषता होती है, इस कारण इन चारोका विशेष रूपसे वर्णन किया जाता है।

१ पात्र का वर्णन

दानकी प्रवृत्ति करनेके योग्य पात्र (स्थान) सात प्रकारके है : (१) पूजा, (२) प्रतिष्ठा, (३) तीर्थयात्रा, (४) पात्रदत्ति, (५) समदत्ति, (६) दयादत्ति, (७) सर्वदत्ति।

(१) पूजा—अपनी शक्तिके अनुसार जलचन्दनादि अष्ट द्रव्यो या एक, दो आदि द्रव्योसे देव, शास्त्र गुरु तथा सोलह कारण, दश लक्षण आदि आत्मगुणोकी पूजा करना। जिनमन्दिरमें पूजनके वर्तन, चदोवा, छत्र, चमरादि धर्मोपकरण चढ़ाना।

(२) प्रतिष्ठा—जिस ग्राममें जैनी भाइयोका समूह अच्छा हो और धर्मसाधनके निमित्त जिनमन्दिर न हो, वहां जिनमन्दिर बनवाना। भगवान्‌के विम्बकी प्रतिष्ठा कराके पधराना। यदि ग्राम छोटा हो, जैनी भाइयोके १०-५ ही घर हो, तो चैत्यालय बनाना, तथा प्रतिष्ठित-मूर्ति दूसरे स्थानसे लाकर, या किसी स्थानकी प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठा करा लाकर, विराजमान करना, अथवा प्राचीन-मन्दिर जीर्ण हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार कराना, क्योंकि नूतन मन्दिर बघानेकी अपेक्षा जीर्णोद्धारमें परिणामोकी विशेष उज्ज्वलता होनेसे १०० गुणा अधिक पुण्य होता है, ऐसा प्रतिष्ठा पाठादि ग्रन्थोमें कहा है।

(३) तीर्थयात्रा—गृह जंजालोकी चिन्ता छोड़ सिद्ध क्षेत्रो, अतिशय क्षेत्रोके दर्शन-वदना करना, शक्ति हो तो सघ निकालना, आप पवित्र क्षेत्रोमें जाकर निर्मल परिणामोयुक्त धर्मसाधन करना तथा अन्य साधर्मी मडलीको कराना । इससे सातिशय तीव्र पुण्यवध होता है ।

(४) पात्रदत्ति—सामान्य रीतिसे पात्र तीन प्रकार के होते हैं : सुपात्र, कुपात्र और अपात्र । यहा पात्रदत्तिसे सुपात्र ही का अभिप्राय जानना चाहिये, क्योंकि पात्रका लक्षण यह कहा है कि जो सम्यक्त्व और चारित्र्य-युक्त हो और दाता-दानके प्रेरको एव अनुमोदको को नौकाकी तरह ससार-सागरसे पार करे । ये लक्षण सुपात्रमे ही पाये जाते हैं अतएव सुपात्र ही दान देने योग्य हैं । ये तीन प्रकार के होते हैं उत्तम, मुनि-आर्यिका । मध्यम, श्रावक-श्राविका । जघन्य, अव्रत सम्यग्दृष्टि (इनके स्वरूपाचरण चारित्र्य होता है) ।

भाव-सम्यक्त्व रहित केवल बाह्य-चारित्र्यके धारक द्रव्यलिगी मुनि तथा द्रव्यलिगी श्रावक वा द्रव्यसम्यग्दृष्टि कुपात्र कहाते हैं । जिसके सूक्ष्म (अप्रगट) मिथ्यात्व हो, उसे तो हम छद्मस्थ जान ही नहीं सकते, इसलिये उसमे सुपात्रके समान प्रवृत्ति होती है, परन्तु जिसके स्थूल (प्रगट) द्रव्य-मिथ्यात्व हो और बाह्य जिनधर्ममे कहे हुए भेषका धारी हो तो वह कुपात्र है । (यहां व्यवहारमे व्यवहार-सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्वकी अपेक्षा है ।)

जो सम्यक्त्व, चारित्र्य दोनोसे भ्रष्ट हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि भेषी, अपात्रको दान देना सर्वथा योग्य नहीं ।

(५) समदत्ति—जो अपने समान साधर्मी गृहस्थ असक्तता कर्मके उदयसे दुःखी हो, उनकी धन-वस्त्रादिसे यथायोग्य सहायता करना ।

(६) दयादत्ति—दुःखित व भूखे जीवोको अन्न-वस्त्रादि से सहायता करना ।

(७) सर्वदत्ति या अन्वयदत्ति—अपने पुत्र, भाई या गोत्री आदिको धनादि सर्वस्व सौंप परिग्रहसे निर्ममत्व हो, उत्तम-श्रावकके व्रत या मुनिव्रत अंगीकार करना ।

२. दातार का वर्णन

पूजा-प्रतिष्ठा तथा पात्रदत्तिके अधिकारी द्विजवर्ण^१ (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही हैं, क्योंकि सत्पात्रोंको द्विजवर्ण के घर पर ही आहार लेनेकी आज्ञा है, शूद्रके घर नहीं (मूलाचार)। शेष समदत्ति आदि चार दान अपनी-अपनी योग्यतानुसार हर कोई कर सकता है। स्पर्श शूद्र दर्शन करते समय एकाध द्रव्य चढानेरूप द्रव्यपूजाका तथा तीर्थयात्रा समदत्ति और दयादत्तिका अधिकारी है। वह द्विजवर्ण की नाई अभिषेकपूर्वक पंच प्रकारी (आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन) पूजनका अधिकारी नहीं है। अस्पर्श-शूद्र मन्दिर के बाहरसे^२ दर्शन कर सकता है और अपनी समानता वालोंके साथ समदत्ति वा दयादत्ति कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि चारित्रवान दातार ही दान देनेका पात्र है। क्योंकि बिना धर्मात्मा हुए सत्पात्र दान नहीं हो सकता। अन्यके न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही हो सकती है और न पात्रदान-द्रव्यादि का बोध हो सकता है। दातार के ५ भूषण हैं—(१) आनन्दपूर्वक दान देना, (२) आदरपूर्वक दान देना, (३) प्रियवचनपूर्वक दान देना, (४) निर्मल भावपूर्वक दान देना, (५) दान देकर अपना घन्य भाग्य मानना। दातारके पांच दूषण हैं—(१) विलम्बसे दान देना, (२) उदास होकर दान देना, (३) दुर्वचन कहकर दान देना, (४) निरादरपूर्वक दान देना, (५) दान दिये पीछे पछताना। दातार के सप्तगुण हैं—(१) दान देने योग्य यही पात्र है ऐसा दृढ परिणाम सो श्रद्धा-गुण है (२) प्रमादरहितपना सो शक्तिगुण है (३) पात्रके गुणोंमें आदर सो भक्तिगुण है (४) दानकी पद्धतिका जानना सो विवेक या विज्ञान-गुण है (५) दान देनेकी सामर्थ्य सो अलुब्धतागुण है (६) सहन-शीलता सो क्षमागुण है (७) भले प्रकार दान देनेका स्वभाव सो त्यागगुण है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में इस प्रकार भी दातार के ७ गुण कहे हैं—(१) फलकी

१ जो यशोपवीत धारण करनेके अधिकारी हैं वे द्विजवर्ण कहाते हैं। द्विजवर्णमें भी कोढी, रोगी आदि जिनका निषेध समवसरण-विधानमें किया गया है या जो जाति-पतित हो, वे इन सत्कर्मोंके करनेके अधिकारी नहीं हैं।

२ इसी अभिप्राय की सिद्धिके लिये कई जगह अब भी प्राचीन मन्दिरोंके शिखरोपर विराजमान व दरवाजोंकी चौखटोपर उकेरे हुए जिनविम्ब दिखाई देते हैं तथा कई जगह नूतन मन्दिरोंमें हालमें भी इसी तरह दर्शन करने का सुभीता है।

अपेक्षारहितपना (२) क्षमावान्पना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्ष्यारहितपना (५) खेदभावरहितपना (६) हर्षभावपना (७) निरभिमानीपना ये दोनों प्रकारके गुण बहुधा एकसे ही हैं और ज्ञानी तथा श्रद्धावान् दातारोमें अवश्य ही पाये जाते हैं ।

३ दान देने योग्य द्रव्य का वर्णन

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा करनेमें सामान्य रीतिसे उसके योग्य द्रव्य व्यय होता है । समदत्तिमें अपने समान गृहस्थको वा जघन्य पात्रको धन, वस्त्र, ज्ञानके उपकरण एवं औषधि आदि की सहायता करके धर्ममें लगाते वा स्थिर कराते हैं । दयादत्ति में दुखितो-भूखोको अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देते हैं । मध्यम पात्रको उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं । आर्यिका को सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल तथा मुनिको केवल पीछी-कमंडल ही देते हैं । सभी पात्रों को शरीरकी स्थिरता निमित्त शुद्ध आहार, रोग के निवारणार्थ औषधि वा ज्ञान की वृद्धि के लिए पुस्तक (शास्त्र) देते हैं । दान में दी जाने वाली सभी वस्तुये यद्यपि सामान्य रीतिसे धर्मवृद्धि करने वाली है, तो भी दातार को इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये कि पात्रको दान देनेका पदार्थ अथवा पूजा-प्रतिष्ठामें काम आनेकी वस्तु शुद्ध निर्जीव व निरवद्य (निर्दोष) हो । मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाको दी जानेवाली वस्तु स्वाध्याय, ध्यान, तप की वृद्धि करनेवाली हो, आलस्य, उन्माद, विकार व अभिमानकी उत्पन्न करनेवाली न हो । विवेकपूर्वक दान देनेसे ही दातार-पात्र दोनोंके धर्मवृद्धि और परम्परासे सच्चे-सुख की प्राप्ति होती है ।

अन्यमतोमें गरु, स्त्री, हाथी, घोडा, रथ, मकान, सोना, तिल, दासी और भूमि ये दस प्रकारके दान कहे हैं । सो ये रागद्वेषादि भावोंके बढ़ाने वाले पच पापोंमें प्रवृत्ति करानेवाले आलस्य, प्रमाद, उन्मत्तता, रोगादिके मूल हैं । आत्महितके बाधक, ससार के बढ़ानेवाले और मोक्षमार्गसे विमुख करनेवाले हैं । इनसे दाता व पात्र दोनोंके धर्मकी हानि होती है । इसलिये ये कुदान कभी भूलकर भी न करना चाहिए । इनका लेना-देना धर्मका अंग नहीं है, इनके देने-लेनेमें धर्म मानना मिथ्या है, ऐसा प्रश्नोत्तरश्रावका-चार तथा पद्मनदिपञ्चीसी आदि ग्रंथोंमें स्पष्टरूपसे कहा है । सागारधर्मामृत में भी कहा गया है कि नैष्ठिक श्रावकको भूमि आदि दश प्रकार के दान भूलकर भी नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे सम्यक्त्वका घात तथा हिंसा

होती है। अतएव जब सम्यक्त्व का भी घात होता है तो ये दश प्रकारके दान सम्यक्त्वीको भी नहीं देना चाहिये।

४. दान देने की विधि

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रामे जो द्रव्य व्यय व उत्तम क्रियाये की जाय वे उत्कृष्ट परिणामोपूर्वक, परमार्थबुद्धिसे, शास्त्रोक्त-पद्धतिसहित विनययुक्त, धर्मप्रभावनाके अभिप्रायसे की जाय।

पात्रदत्ति—उत्तम पात्र (मुनि) को प्राशुक-शुद्ध आहार नवधाभक्ति-युक्त (विधिपूर्वक) देकर अपना धन्य भाग मानना चाहिये। दातारको नित्य भोजनसमय रसोई तैयार करके, सब आरम्भ तजि, सर्वभोजन-सामग्री शुद्धस्थान मे रख, प्राशुक जल से भरा हुआ, ढका हुआ लोटा लेकर अपने द्वारपर पात्र हेरने के लिए णमोकार मंत्र जपते हुए खड़ा होना योग्य है। दान विना गृहस्थके चूल्हा-चौका स्मशान समान है, क्योंकि यत्नाचार करते हुए भी उसमे नित्य छह कायके हजारो जीव जलते हैं। अतएव आहार दान देनेसे गृहस्थ का चौका सफल है। उपर्युक्त प्रकार पात्र हेरनेकी द्वारोपेक्षण सज्ञा है। जब मुनि अपने द्वारके सन्मुख आवें तो, “स्वामिन् ! अत्र तिष्ठ—अन्न जल शुद्ध” ऐसा कह कर (१) आदर पूर्वक अपने गृह मे अतिथि को प्रवेश करावे। इसको प्रतिग्रहण या पडगाहना कहते है। पश्चात् पात्र को (२) उच्च स्थान अर्थात् पाटला (चौकी) पर स्थित करके (३) प्राशुक जल से चरण धोवे (अग पोंछे), (४) अष्ट द्रव्य से पूजन करे (५) अष्टांग^१ नमस्कार करे, (६) मनशुद्धि, (७) वचनशुद्धि, (८) कायशुद्धि, और (९) भोजनशुद्धि^२ करे। इस प्रकार नवधाभक्ति एव शुद्धिपूर्वक सर्व प्रकार

१ बोहा—शिर, नितव, उर, पीठ, कर जुगल जुगल पद टेक।

अष्ट अंग मे तन विपै, और उपंग अनेक ॥१॥

२ भोजन शुद्धिमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी शुद्धिपर ध्यान रखना चाहिये अर्थात् भोजनके पदार्थ शुद्ध मर्यादित तथा रसोई बनानेकी सामग्री, वर्तन, लकड़ी वगैरह शुद्धनिर्जन्तु होना चाहिए। रसोई बनानेवाला रसोईके बनाने की विधिका ज्ञाता, धर्मबुद्धि हो। रसोई करने तथा आहार देने का स्थान, चँदोवा सहित, मिट्टीसे लिपा हुआ, स्वच्छ, निर्जन्तु होना चाहिये। रसोई ठीक समय पर तयार होकर सामायिकके पक्षतर (दश और ग्यारह बजे के बीच मे) देना चाहिये। पवित्र और उत्साहित चित्त होकर अपनी योग्यतानुसार, अपनी गृहस्थी के लिए तय्यार हुए भोजन मे से पात्रदान करे, पात्रके निमित्त न बनावे। आहार मे कोई भी पदार्थ सचित्त न हो।

भोज्य पदार्थ अलग-अलग कटोरी में रखकर थालीमें लेकर मुनिराज के सन्मुख खड़ा होवे और ग्रास बना-बना कर उनकी हस्ताजलीमें देवे (वृद्ध विद्वानो का वाक्य है कि अन्नके एक ग्रास वाद हस्ताजलीमें प्राशुक जलका एक ग्रास देवे) मुनिउत्कृष्ट ३२ ग्रास लेते हैं। जब भोजन कर चुके, और ग्रास हस्तमें न लें, तब जलके ग्रास देवे तथा उनका मुह-हाथ अच्छी तरहसे धोवे, पोछे। कमंडलको धोकर-साफकर प्राशुक जल^१ भर देवे। यह बात ध्यानमें रहे कि मुनिराज तथा उत्कृष्ट श्रावकके पधारनेसे भोजन करलेनेके समय तक घरमें दलना, पीसना, रसोई आदि कोई भी आरम्भ-सम्बन्धी काम तथा अन्तराय होने सरीखे काम न करे। यदि कमंडल पीछी या शास्त्रकी आवश्यकता देखे, तो बहुत आदर एवं विनयपूर्वक देवे। यह मुनिके आहारदानकी विधि है। आर्यिका भी उत्तम पात्र हैं। वे बैठकर मुनि की नाई करपात्रमें आहार करती हैं। सो उनकोभी उनके योग्य आदर-भक्तिपूर्वक आहारदान करे। पीछी, कमंडल, सफेद साडी, की आवश्यकता देखे तो देवे। यदि पात्र को कोई रोग हो तो भोजनके साथ या अलग, जैसा योग्य हो औषधि देवे।

मध्यम पात्र ऐल्लक बैठकर करपात्रमें और क्षुल्लक पात्रमें लेकर भोजन करते हैं। (इसकी विधि ग्यारहवीं प्रतिमामें स्पष्ट कही है)। इनको इनके योग्य तथा ब्रह्मचारी या व्रती श्रावक को उनके योग्य प्रतिग्रहण करके आदर, यथायोग्य विनय एवं भक्तिपूर्वक दान करे। वस्त्र, पिछौरी, लंगोटी, कमंडल, पीछी, शास्त्र आदि जो उनको चाहिये सो उनके योग्य देवे, कमंडल तथा घातुपात्रमें प्राशुक जल भर देवे। इनको अष्टांग नमस्कार या पूजन करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है। पूजनकी विधि तो केवल निर्ग्रन्थ-मुनियो के लिये ही कही गई है।

दशवी-ग्यारहवीं प्रतिमावालो को तथा मुनिराज को उनके निमित्त बना हुआ “उद्देशिक आहार” नहीं देना चाहिये, अपने घरमें जो नियमित आहार बने, उसीमेंसे देना चाहिये।

समदत्ति—सामान्य आदार-सत्कार एवं हर्षपूर्वक अपने वरावरीके सार्धमियोकी सहायता धन-वस्त्र, स्थानादिसे करना चाहिए। अपना वडप्पन

१ जल एक उकोली आवे ऐसा गर्म होनेपर उतार कर ठंडा करले। यही जल भोजनके समय देने तथा कमंडलमें भरनेके काम लावे।

अतिथि-सविभाग अर्थात् दान देनेसे लोभादि कषायोंकी मदता होती तथा धर्म और धर्मात्मा मे अनुरागरूप परिणाम होनेसे तीव्र पुण्यवध होता है तथा पात्र के शरीरकी स्थिरता होनेसे धर्मसाधन होकर उसे भी स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

व्रती श्रावकके टालने योग्य अन्तराय^१—(१) देखनेके—१ गीला चर्म २ हड्डी ३ मांस ४ चार अंगुल रक्तकी धार ५ मदिरा ६ विण्ठा ७ जीवहिंसा ८ गीली पीव (राध) ९ बड़ा पचेन्द्री मरा हुआ जानवर (मुर्दा) १० मूत्र, इनके देखने से अतराय होता है ।

(२) स्पर्शके—१ चर्मादि अपवित्र पदार्थ २ पचेन्द्री बड़ा पशु ३ अव्रती पुरुष^२ ४ रजस्वला स्त्री ५ रोम या केश ६ पख ७ नख ८ आखड़ी भग करने वाले पुरुष या शूद्रका स्पर्श हो जाय अथवा अपने शरीर या हाथसे कोई छोटा-बड़ा व्रस जीव अचानक मर जाय या मरे हुएका स्पर्श हो जाय तो अतराय होता है ।

(३) सुननेके—१ मांस २ मदिरा ३ अस्थि ४ मरण होने की आवाज ५ अग्नि लगने आदि उत्पातके शब्द ६ अति कठोर “इसको मारो काटो” आदि शब्द ७ करुणाजनक रोने का शब्द ८ स्वचक्र-परचक्रके गमन का शब्द ९ रोग की तीव्रता का शब्द १० धर्मात्मा पुरुषके उपसर्गके समाचार ११ मनुष्य के मरनेके समाचार १२ नाक-कान छिदने (कटने) का शब्द १३ चांडालका शब्द १४ जिनविम्ब, जिनधर्म और धर्मात्माके अविनयका शब्द १५ किसी अपराधीके फासीके समाचार । इनके सुननेसे अन्तराय होता है ।

(४) मनके संकल्पके—भोजन करते समय ऐसा विचार उत्पन्न हो कि यह अमुक भोज्यपदार्थ चाम-मांस-हाड-रक्त-मदिरा-मल-मूत्र आदि निषिद्ध पदार्थ सरीखा है, ऐसी ग्लानि होने अथवा भोजन समय मल-मूत्र करने की शका होनेसे अतराय होता है ।

१ सिद्धभक्ति किये पीछे अतराय माना जाता है (२) जिसके दो बार भोजन करनेका नियम हो, वह अतराय होनेपर अतर्मुहूर्त पीछे पुनः भोजन कर सकता है, ऐसा स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी ने त्रिवर्णाचारके आधार से अपने “गृहस्थ धर्म” मे लिखा है ।

२. जिसका निन्द्य तथा अष्ट आचरण हो, जो जिनधर्म रहित हो, सप्तव्यसन सेवन करनेवाला तथा अष्ट मूलगुणरहित हो, सो अव्रती जानना ।

(५) भोजनके—यदि कोई त्यागा हुआ पदार्थ भोजन करने (खाने) में आ जाय तो भोजन तजे ।

व्रती श्रावकके करने योग्य विशेष क्रियाएं—१ विशेष हिंसाके, निच तथा निर्दयताके धंधे न आप करे, न औरो को करावे, और न इनकी दलाली करे जैसे, लाख-मोम-गोंद-लोहा-शोरा-सीसा-हथियार-जूता बेचना आदि, खात का ठेका लेना, वृक्ष काटना, घास काटना, तेल पेरना, हल-बाईगिरी करना, वनकटी करना आदि, शराब-गांजा-अफीम आदि मादक पदार्थों का ठेका लेना-बेचना, गाडी, घोडा आदि के किरायेका धधा करना ।

यद्यपि व्रतप्रतिमामें केवल सकल्पी त्रस-हिंसाका त्याग होता है, आरम्भीका नहीं तथापि अयत्नाचार पूर्वक होनेवाली आरम्भी हिंसा भी सकल्पीके भाव को उत्पन्न करती है, ऐसा शास्त्रो का वाक्य है । जैसे राज्य करना क्षत्रिय का आरम्भ है अतएव प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करना, इस प्रकार की विरोधी हिंसा का त्याग करना उसके लिए अशक्य है, तथापि इसमें यत्नाचारका अत्यन्त अभाव है । युद्ध महान् आरम्भ और हिंसा का कारण है । युद्धकर्त्तृसि सामायिक, प्रोषधादि व्रतो का निर्विघ्न और यथा-योग्य पालन होना असंभव है, इसलिये व्रती स्वतः अपने तई युद्ध न करे, सेनापति, कुटुम्बी, भृत्यादि जो युद्ध करने योग्य हो, सो करें । इसी प्रकार प्रचुर आरंभ और हिंसा का मूल खेती का धंधा है, इसमें भी यत्नाचारका अभाव आदि युद्ध के सदृश सभी दोष उत्पन्न होते हैं अतएव व्रती पुरुष खेती अपने हाथ से न करे, जिसके परंपरासे होती आई हो, वह खेत बेचे, अपने कुटुम्बी, भृत्यजन आदिसे करावे अथवा इस धंधे को छोड़कर और कोई हिंसारहित धधा करे ।

यहां कोई सन्देह करे, कि कृषि वाणिज्यादि आरम्भका त्याग जब अष्टम प्रतिमामे कहा है तो व्रतप्रतिमा मे इसका निषेध कैसा ? उसका समाधान—जैसे छठी प्रतिमामे रात्रिभुक्ति त्याग कहा है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पाचवी प्रतिमावाला रात्रिभोजन करता होगा । नहीं-नहीं रात्रिभोजन का त्याग तो प्रथम प्रतिमामे ही हो चुका है, छठीमे तो केवल कारितअनुमोदना सम्बन्धी अतीचारोका त्याग होता है । इसी प्रकार पाचवी प्रतिमामे बीज, कद-मूलादि सचित भक्षणका त्याग कहा है इससे कोई ऐसा न समझे कि चौथी प्रतिमावाला कन्द-मूल खाता होगा । नहीं-नहीं,

वताना, अभिमान करना और उनका निरादर करना योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मपद्धतिकी मुख्यतापूर्वक उनकी सहायता की जाती है।

दयादत्ति—दुखित व भूखे जीवोको दयापूर्वक औषधि, अन्न, वस्त्र देना योग्य है। नकद पैसा न देना चाहिये। नकद देनेसे वे लोभके वश पैसा एकत्र करते जाते और उनका सदुपयोग नहीं करते, जिससे वह द्रव्य व्यर्थ जाता है, अथवा वे दुरुपयोग करते हैं जिससे उल्टा पाप लगता है। हट्टे-कट्टे, मिथ्यात्वो, दुर्गुणी, मस्तलोगो को दान देना दयादत्ति नहीं, किन्तु पापदत्ति है। इनको दान देनेके बदले धनको अवकूप में डाल देना अच्छा है। दातारको चाहिये कि बहुत विवेकपूर्वक अपने परिश्रम एवं न्यायसे कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग करे।

दाता व पात्र दोनो के जानने तथा दोषोसे बचनेके लिये आहार सम्बन्धी ४६ दोषोका वर्णन मुनिर्धर्म प्रकरण में किया गया है।

दान का फल

निर्दोष एवं विधिपूर्वक पात्र दान करनेसे गृहस्थो के आरभ सम्बन्धी षट्कर्म-जनित पाप क्षय होजाते और सातिशय पुण्य का सचय होता है। तपस्वी-मुनियो को नमस्कार करने से उच्च गोत्रका वध होता, दान देनेसे दानान्तरायका क्षयोपशम होता और भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तुति करने से कीर्ति होती है। पात्रको दिया हुआ दान उत्तम फलयुक्त वृक्षके समान सुखदाई और मनवाछित फलको उत्पन्न करनेवाला होता है। दानके फलसे मिथ्यादृष्टि भोगभूमिके सुख, सम्यग्दृष्टि स्वर्गके सुख भोगता हुआ परपरासे मोक्ष पाता है। दानके फलकी महिमा यहा तक है कि तीर्थंकर भगवान् को प्रथम पारणा करनेवाला तद्भवमोक्षगामी होता है।

कुपात्र-दानके फलसे कुभोग भूमिके सुख तथा समदत्ति और दयादत्ति से पुण्य का बंध होकर स्वर्ग के सुख मिलते हैं। इसके विपरीत अपात्रो को दान देना पाप का वध करनेवाला उल्टा दुखदाई होता है क्योंकि इससे मिथ्यात्व तथा पाप की वृद्धि होती है जिससे दाता और पात्र दोनोको नीच गति की प्राप्ति होती है।

यहा पर यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस कलिकालमें योग्य-पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ हो गई, फिर हम किसकी वैयावृत्ति करें ? किसको

दान देवे ? उसका समाधान यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रोंकी यथायोग्य सेवा-सहायता करो, उनके श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र्यकी वृद्धिका पूरा-पूरा यत्न को, जिससे वे उत्तम पात्र बननेके उत्साही हो। इसके सिवाय पच-परमेष्ठी गर्भित जिनविम्बकी पूजन करो जो उत्तम दान एव उत्कृष्ट वैयावृत्यके फलको देनेवाले है।

जिनेन्द्रपूजन करनेका अभिप्राय केवल वैयावृत्य और दान द्वारा पुण्य वध करके स्वर्गसुखोंकी प्राप्ति करना मात्र ही नहीं है किन्तु चित्तवृत्ति को ससारसे फेरकर, वीतराग रूप करके धर्मध्यान शुक्लध्यानमें लगाकर परमात्मपनेकी प्राप्ति करना है। जिस प्रकार किसी सासारिक कार्यको समुचित रीतिसे करने से वह सफल होता है, उसी प्रकार अनुभवपूर्वक एकाग्रचित्त करके पच-परमेष्ठीके दर्शन, पूजन, वंदना करनेसे मोक्ष सरीखे अलौकिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसा जानकर प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है कि यथाशक्ति नित्य धार्मिक षट्कर्मों में प्रवृत्ति करे। सो ही शास्त्रोमे कहा है.—

श्लोक—देवपूजा, गुरुपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप ।

दानचेति गृहस्थाना षट् कर्माणि दिने-दिने ॥१॥

अर्थ—गृहस्थोंको, देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय सयम, तप और दान ये षट्-कर्म नित्य करना चाहिये।

पात्रदानके पंचातीचार—(१) दान में दी जानेवाली वस्तु हरित पत्रमें रखना (२) हरित पत्रसे ढाकना (३) अनादरसे दान देना^१ (४) दानकी विधि भूल जाना या दान देनेकी सुधि न रखना (५) ईर्ष्या बुद्धिसे दान देना।

प्रगट रहे कि अतीचार पात्रके आहारदानकी मुख्यता से कहे गए हैं अतएव अतीचार बचाने और अतिथि-सविभाग ब्रतको निर्दोष पालनेके लिये दातार सबधी जो-जो दोष बताये गये हैं उनको न लगने देना चाहिये।

१ तत्त्वार्थसूत्रजी में अनादरकी जगह परव्यपदेश अर्थात् दूसरेसे भोजन देनेको कहकर आप और काम में लग जाना और दानकी सुधि भूल जानेकी जगह आहारका समय टाल आहार देना कहा है सो इन दोनों का प्रयोजन एक ही है केवल शब्द मात्रका अन्तर है।

इनका त्याग दर्शनप्रतिमाके २२ अभक्ष्यमे तथा रहा-सहा व्रत-प्रतिमाके अनर्थदडत्यागव्रत मे हो चुका है। पचम प्रतिमामे तो केवल सचित्तका त्याग कराया है। इन दोनों दृष्टान्तों से भलीभाति समझमे आजायगा कि सप्तम प्रतिमावाला ब्रह्मचारी होकर कदापि अपने हाथ से खेती नहीं करता। भला वह सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी, ब्रह्मचारी होकर हलवखर लेकर खेत जोते और प्रत्यक्ष छोटे-बड़े हिलते-चलते त्रस जीवोका निर्भयता पूर्वक घात करे, यह कैसे संभव हो सकता है ? कदापि नहीं।

इसमे सदेह नहीं कि अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रही श्रावक ही भाव-शुद्धिपूर्वक अणुव्रतोका पालन कर सकता है। कषाय मद होकर जिस-जिस प्रकार प्रतिमा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही इन्द्रियोके विषय, आरंभ, परिग्रह घटते जाते हैं। यहा कोई प्रश्न करे कि जिसका धधा ही खेती या युद्धका हो, वह क्या करे ? उसका समाधान—जो परिणामोकी विशुद्धतापूर्वक अहिंसादि अणुव्रत, सामायिक आदि शील पालना चाहे तो खुद अपने हाथसे ऐसी दीर्घ हिंसा एव आरम्भके कार्य न करे, अपने कुटुम्बी, परिकर, नौकर-चाकरों को करने दे और आप ऐसे धधे छोड़ अल्प आरम्भ-परिग्रहके धधे करे।

२ आखो दीखते त्रस जीवोका घात न करे। जितने कार्य गृहस्थ-सम्बन्धी या धर्मसम्बन्धी व्रतीके करने योग्य हो, सब मे यत्नाचारपूर्वक देख-शोधकर प्रवृत्ति करे, क्योंकि अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने से हिंसा न होते हुए भी हिंसा सम्बन्धी पापान्नव होता है।

३ एक जीवको मार डालने से बहुत जीवो की रक्षा होती है, ऐसा मानकर सर्प, विच्छू, सिंहादि हिंसक जीवोको न मारे। प्रश्नोत्तरश्रावकाचार मे स्पष्ट कहा है कि व्रत प्रतिमावाला, शत्रुको भी मूकी-लाठी आदि से नहीं मारता तो सिंहादि का मारना कैसे संभव है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार देव, गुरु, धर्मके निमित्त भी कभी भूलकर हिंसा न करना चाहिये और न दुखी जीवोको दुखसे छूट जाने के अभिप्रायसे मारना चाहिये।

४ सदा उठते-बैठते चलते-फिरते कोई भी कार्य करते इस बातका विचार रखना चाहिये कि मेरे ही समान सब जीवो को सुख-दुख व्यापता है, इसलिये जिस प्रकार रोजगार धधो मे हिंसा, भूठ आदि की प्रवृत्ति कम होती देखे, उसी तरह शरीर तथा कुटुम्बका पालन करता हुआ प्रवर्ते,

इसीलिए व्रती श्रावक को “अल्पसावद्यआर्य” सज्ञा है। सागारधर्माभूतमे भी कहा है कि व्रती अल्पसावद्ययुक्त आजीविका करे।

५ हिंसा तथा व्रतभग से बचनेवाली नीचे लिखी बातों पर ध्यान देवे (१) रात्रिका बनाया हुआ भोजन भक्षण न करे (२) जाति-विरादरीके वड़े-बड़े जीमणो (जवनारो, दावतो, गोटी) में भोजन न करे, क्योंकि वहां शुद्ध-अशुद्ध, भक्ष्य-अभक्ष्य, मर्याद-अमर्याद, छनापानी-अछनापानी आदि बातों का कुछ भी विचार नहीं रहता (६) रसोई बनाते या जीमते वक्त शुद्ध, धोया हुआ वस्त्र पहिने (दौ क्रि को) (४) नीच तथा निकृष्ट धंधे करनेवालों से लेने-देने, बैठक-उठक आदि व्यवहार न रखे (५) वाग-वगीचेमें भोजन अथवा गोट न करे (६) पशु-मनुष्यादिका युद्ध न देखे (७) फूल न तोड़े (८) जलब्रीडा न करे (९) रात्रिको खेलकूद तथा व्यर्थ दौड़-भाग न करे (१०) जहां बहुत स्त्रिया एकत्र होकर विषय-कषाय बढ़ानेवाले गीतगान करती हो ऐसे मेलेमें न जावे और न विषय-कषाय बढ़क नाटक खेलादि देखे (११) होली न खेले (१२) गाली न देवे, हसी-मसखरी न करे (१३) चमड़ेके जूते न पहने (१४) ऊनी वस्त्र न पहिने (१५) हड्डीके बटन आदि पदार्थ काममें न लावे (१६) घोड़ी से कपड़े न धुलावे^१ (१७) पानीके नलोंके डांटो में यदि चमड़े का पर्दा लगा रहता हो तो नलका पानी दर्जन प्रतिमाधारी को न पीना चाहिये। यदि चमड़ा न लगा हो और जीवाणी (बिछलानी) डालने का सुभीता न हो तो व्रतप्रतिमाधारी न पीवे, क्योंकि जीवाणीको उसी जल स्थानमें डाले बिना, त्रसहिंसा का दोष आता है (१८) धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है कि व्रती अनछने जलसे स्नान तथा शौच न करे (१९) व्रती श्रावक उत्तम वश अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके हाथ का भरा हुआ जल पीवे, जो विधिपूर्वक जल छानना जानता हो (दौ क्रि. को.) (२०) घड़ी दो दिन रहेसे घड़ी दिन चढ़े तक हिंसाकी निवृत्तिके लिए आहार-पानी न लेवे (२१) जिस देश या क्षेत्रमें व्रतभग होता हो वहां न जावे (२२) व्रती मौनसहित^२ अन्तराय टाल

१ अगर कपड़े धोना हो तो जलस्थान से अलग छने पानी से धोवे।

२ व्रती श्रावकको भोजन के समय कोई भी चीज लेनेके लिये भौंह, आख, हुंकार, हाथ, पाव आदि का इशारा न करना चाहिये, नहीं करने के लिए इशारा करने की रोक नहीं है। मौन रखके तथा अन्तराय पालने से जिह्वा इन्द्रिय वश होती, सन्तोष भावना पलती, वैराग्य दृढ़ होता, समय पलता, चित्त स्थिर रहनेसे एषणासमिति पलती तथा वचनकी सिद्धि आदि अनेक अतिशय उत्पन्न होते हैं।

भोजन करे (२३) दर्शन-पूजन दानपूर्वक भोजन करे (२४) रातको स्नान न करे, इसमें विशेष त्रस हिंसा होती है (दौ. क्रि को) (२५) व्रत प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक रात्रिको एकांत स्थानमें नग्न ध्यान धर सकता है। दिनको तथा सर्व स्त्री-पुरुषोंके आने जाने के स्थानमें ध्यान न धरे (पीयूषवर्षश्रावकाचार)।

व्रती श्रावक सात जगह मौन रखे—(१) भोजन-पान (२) स्नान (३) मलमोचन (पेशाव-पखाना) (४) मैथुन (५) वमन (६) पूजन (७) सामायिकके समय। तथा सात जगह चंदोवा बाँधे—(१) चूल्हा अर्थात् रोटी बनाने की जगह तथा भोजन करने की जगह (२) परिंडा (घिनौची) पर (३) घट्टी (चक्की) पर (४) ऊखली पर (५) अनाज आदि रसोईके सामान साफ करनेकी जगह पर (६) सोने-वैठनेकी जगह पर (७) सामायिक-स्वाध्याय करने की जगह पर।

तृतीय सामायिक प्रतिमा

सामायिक शिक्षा व्रतमें कह ही आये हैं कि रागद्वेष रहित होकर बुद्धात्मस्वरूपमें उपयोग को स्थिर करना सो यथार्थ सामायिक है। इस सामायिककी सिद्धिके लिये श्रावक अवस्थामें द्वादश अनुप्रेक्षा, पचपरमेष्ठी, आत्माके स्वभाव-विभावोका चिंतवन एव आत्मस्वरूपमें उपयोग स्थिर करने का अभ्यास करना, सो सामायिकप्रतिमा है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामायिक-व्रत और सामयिक प्रतिमामें क्या अन्तर है? उसका सामाधान-शिक्षाव्रत में समयकी मर्यादा अथवा शाम-सुबह-दोपहरको नियमित समय से कुछ आगे-पीछे, कालका अंतर पडने सम्बन्धी दोष आता था, अथवा सामायिकव्रती कदाचित् (कभी) कारण विशेषसे प्रातःकाल संध्याकाल दो ही समय सामायिक करता था परन्तु यहां प्रतिमारूप होनेसे नियमपूर्वक त्रिकाल यथावत् सामायिक करता है। सामायिक व्रतमें लगनेवाले उपर्युक्त दोष ऐसे नहीं थे, जिनसे सामायिक व्रत भग्न हो जाय। केवल सूक्ष्म-मलरूप थे, अतः यहां उनका अभाव हुआ। सामायिक प्रतिमावाला निर्दोष सामायिक करे और नीचे कहे हुए ३२ दोष न लगावे, उपसर्ग आने पर भी प्रतिज्ञासे न टले और रागद्वेषरहित हुआ सहन करे।

सामायिक सम्बंधी ३२ दोष—(१) अनादरसे सामायिक न करे (२) गर्वसे सामायिक न करे (३) मान-बडाईके लिये सामायिक न करे (४) दूसरे जीवों को पीडा उपजाता हुआ सामायिक न करे (५) हिलता हुआ सामायिक न करे (६) शरीरको ठेढा रखता हुआ सामायिक न करे (७) कछुयेकी नाई शरीर को सकोचता हुआ सामायिक न करे (८) सामायिकके समय मछली की नाई नीचा-ऊँचा न हो (९) मनमे दुष्टता न रखे (१०) जैनमतकी आम्नायके विरुद्ध सामायिक न करे (११) भययुक्त सामायिक न करे (१२) ग्लानि सहित सामायिक न करे (१३) मनमे ऋद्धिगौरव रखता हुआ सामायिक न करे (१४) जात-कुलका गर्व रखता हुआ सामायिक न करे (१५) चोरकी नाई छिपता हुआ सामायिककी क्रिया न करे (१६) सामायिकका काल व्यतीत होने पीछे सामायिक न करे अर्थात् समय पर करे (१७) दुष्टतायुक्त सामायिक न करे (१८) दूसरेको भय उपजाता हुआ सामायिक न करे (१९) सामायिकके समय सावद्य वचन न बोले (२०) परकी निंदा न करे (२१) भाँह चढाकर सामायिक न करे (२२) मनमे सकुचाता हुआ सामायिक न करे (२३) दशो दिशाओंमें इधर-उधर अवलोकन करता हुआ सामायिक न करे (२४) स्थानके देखे-शोघे विना सामायिकको न बैठे (२५) जिस-तिस प्रकार सामायिकका काल पूरा न करे (२६) सामायिक की सामग्री लगोटी-पूजणी-क्षेत्र आदिके मिलने पर या न मिलने पर सामायिकमे नागा न करे (२७) वाछायुक्त हुआ सामायिक न करे (२८) सामायिकका पाठ हीन न पढे अथवा सामायिक का काल पूरा हुए विना न उठे (२९) खडित पाठ न पढे (३०) गूँगेकी नाई न बोले (३१) मैढककी नाई ऊँचे स्वर से टरं-टरं न बोले (३२) चित चलायमान न करे ।

चतुर्थ प्रोषध प्रतिमा

प्रोषध—शिक्षाव्रतमे प्रोषधोपवासकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णन कर ही आये हैं, वही सब क्रिया यहा समझना चाहिये । यद्यपि वहा पर भी मल दोष न लगनेकी पूरी खबरदारी रखी जाती थी, तो भी कारण विशेषसे प्रोषध-व्रतमे एक बार उष्ण-जल लेने अथवा एकासना करनेकी भी प्रतिज्ञा लेकर तदनुसार ही व्रत पालन किया जाता था । अब यहा प्रोषध प्रतिमा प्रतिशारूप है, इसलिये परीषह उपसर्ग आनेपर भी शक्ति को न छिपाकर प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशीको यथाशक्य उत्कृष्ट मध्यम-जघन्य

प्रोपघोषवास कर सामायिकवत् १६ पहर तक आहार, आरम्भ, विषय, कपाय रहित होकर उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना चाहिये ।

पांचवी सचित्त त्याग प्रतिमा

जो दयालु पुरुष कच्चे (सचित्त) कन्द, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (अकुर अथवा गाभा) पुष्प, बीज आदि भक्षण करनेका त्याग करता है वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहाता है ।

सचित्तभक्षण का त्याग स्वदया (आत्मदया), परदया एवं जिह्वा वश करने अथवा अन्य-अन्य इन्द्रियोके दमनार्थ किया जाता है । जो सचित्त त्यागी हैं, वे श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा और प्राणियोकी दया पालते हुए धर्ममे तत्पर होते हुए अति कठिन्तासे जीती जानेवाली रसना-इन्द्रियको वश करते हैं ।

कच्ची वनस्पति, कच्चा जल और बीज^१ इन सब सचित्त पदार्थों को अचित्त होनेपर भक्षण करनेका अभिप्राय यही है कि जिससे स्थावर कायके जीव भी भक्षण करनेमे न आवे और अचित्त पदार्थोंके भक्षण करनेका रसना इन्द्रियका स्वभाव पड़ जाय । इसीलिये जलको गर्म करके अथवा तित्त द्रव्य डालकर, तरकारीको सुखाकर, सिंभाकर या छोटे-छोटे टुकड़े करके उसमे सर्वांग तित्त द्रव्यका असर पहुँचाकर तथा बीजको वाटकर या पीसकर अचित्त करके खाते हैं ।

यहां "कन्द-मूलादि सचित्त भक्षण न करे" यह कहा है, इससे कोई ऐसा न समझ ले कि चौथी प्रतिमावाला सचित्त कन्दमूल खाता होगा, इसीलिये पांचवी प्रतिमावालेके लिये इस अनन्त काय (कन्द-मूलादि) को अचित्त करके भक्षण करनेकी विधि बताई है । नहीं-नहीं ! कन्दमूलादि अनतकाय वा पुष्पादि त्रसजीवोसे सकृत् वनस्पतियोका त्याग तो भोगोपभोग परिमाणव्रतमे ही हो चुकता है, यहां तो केवल सचित्तत्याग और अचित्त भक्षणकी विधि होनेसे सामान्य रीतिसे कन्द-मूल-पुष्प-फलादि सभी सचित्त वनस्पतियोके नाम-मात्र आचार्यों ने कहे हैं । सचित्तत्यागीने पहिले भोगोपभोग परिमाण व्रतमे जितनी सचित्त-वस्तुओंके भक्षण

१ सूखा बीज योनिमूत होनेमे शास्त्रोमे उसे सचित्त कहा गया है और हरा बीज तो सचित्त है ही ।

करनेका प्रमाण किया हो, उन्हीको अचित्त हुई खावे और जिनका अचित्त-सचित्त दोनो भगोसे त्याग कर दिया हो, उनको अचित्त भी न खावे । इसी अभिप्रायको लेकर सकलकीर्ति श्रावकाचारमे कहा है कि सचित्तत्यागी, भोगोपभोगपरिमाण व्रतमे त्यागकी हुई वनस्पतियोको अचित्त भी न खावे ।

प्राशुक (अचित्त) करने की विधि

गाथा

सुकक, पक्क, तत्त आमललवणेहि मिस्सिय दव्व ।

ज जतेण य छिण्ण, त सव्व फासुय भणिय ॥ १ ॥

अर्थ—सूखा हुआ, अग्नि तथा धूप द्वारा पका हुआ, गर्म हुआ, खटाई-लवण मिश्रित हुआ, यत्रद्वारा छिन्न-भिन्न अर्थात् टुकड़े-टुकड़ हुआ, पिसा हुआ, दला हुआ, रगडा या बाटा हुआ निचोडा हुआ ये सब आचार्यों द्वारा प्राशुक कहे गये हैं ।

सचित्तत्यागी धूप द्वारा पके हुए फलोमे गुठली (बीज) सचित्त होनेके कारण, फलोमेंसे अलग हुआ गूदा भक्षण करते हैं । यदि गूदा सगकित सचित्त हो तो छिन्न-भिन्न हुआ तथा लवणादि तिक्तद्रव्य-मिश्रित हुआ खाते हैं ।

सचित्तत्यागी अपने हाथोसे यत्नाचारपूर्वक रसोई बना सकता है अर्थात् अन्न-जल सागादि सामग्री अचित्त करके खा सकता है क्योंकि इस प्रतिमामे केवल जिह्वा इन्द्रियकी लोलुपता घटानेका मुख्योद्देश है, आरम्भ त्यागका नहीं । ज्ञानानन्दश्रावकाचारमे भी कहा है कि “सचित्त भक्षण करनेका त्याग तो पाचमी प्रतिमाधारीके होता है और शरीरादिकसे स्पर्श का त्याग मुनिके होता है” इससे सिद्ध हुआ है कि इस प्रतिमामे सचित्त-भक्षणमात्रका त्याग है । तो भी सागारधर्माभूत और धर्मसंग्रह श्रावकाचारमे कहा है कि “सचित्त त्यागी, सचित्त वस्तुका भक्षण करना तो दूर, पांवसे भी न छूवे । पृथ्वी अग्नि, पवन कायादिकी दया पाले” । क्रियाकोपीमे भी कहा है कि हाथ-पाव धोनेको सचित्त मिट्टी न लेवे । इन उपर्युक्त वाक्योंसे यद्यपि परस्पर विरोधसा जान पडता है, तथापि विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि अपने प्रयोजनके वश रसोई बना सकता है । जल, अन्न, साग तरकारी आदि प्राशुक करके भक्षण कर सकता है । क्योंकि यहा आरम्भका त्याग नहीं है, तोभी निरर्थक एकेन्द्रीकी भी हिंसा नहीं करता ।

सच्चित्तत्यागी रसोईमे ऊपरसे नमक डालकर न खावे क्योंकि नमक सदा सच्चित्त कहा गया है। मिट्टीसे दात न मले, सूखा फल भी बीज सहित न खावे, क्योंकि उसमे बीज सच्चित्त होता है। पुनः सच्चित्तत्यागी किसी प्रकारका सच्चित्त दूसरोंको भी न खिलावे ऐसा स्वामिकार्तिकेय अनुप्रेक्षा और समाधितत्रमे कहा है।

सच्चित्तत्याग प्रतिमा धारण करनेसे जिह्वा इन्द्रिय वशमे होती, और दया पलती है। वात-पित्त-कफका प्रकोप न होनेसे शरीर नीरोग रहता, शारीरिक-शक्ति बढ़ती, कामवासना मन्द पड़ती है जिससे चित्तकी चंचलता घटती है। अतएव सच्चित्तत्याग पुण्यवधका कारण तथा धर्मध्यान मे सहकारी होनेसे परपराय मोक्षकी प्राप्तिका भी निमित्त कारण है।

छठी रात्रि-भुक्तित्याग प्रतिमा

इस प्रतिमाका शास्त्रोमे दो प्रकारसे वर्णन किया गया है एक तो कृत-कारित-अनुमोदनासे रात्रि भोजनका त्याग करना। दूसरे दिनको स्त्री-सेवनका त्याग करना। ये दोनों प्रकारके त्यागी रात्रिभुक्तित्यागी कहाते हैं। इनका स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार है—

(१) यद्यपि मास-दोषकी अपेक्षा दर्शन प्रतिमामे और बहु-आरम्भजनित त्रस-हिंसाकी अपेक्षा व्रत प्रतिमामे रात्रिको खाद्य-स्वादादि चारो प्रकारके आहारका अतीचारो सहित त्याग हो जाता है तथापि पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बी तथा अन्य जनोके निमित्तसे कारित-अनुमोदनासम्बन्धी जो दोष आते हैं, उनके यथावत्-त्यागकी प्रतिज्ञा यहा होती है। रात्रिभुक्तित्यागी अपने पुत्रादि कुटुम्बियो तथा घर आये हुए पाहुनोको भी रात्रि भोजन नहीं कराता, न करते हुओकी अनुमोदना करता है। यहा तक कि रात्रिको भोजन अन्नादिका दान भी नहीं करता।

(२) इस प्रतिमावाला मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे दिनको स्त्री सेवनका त्यागी होता है। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि पांचवी प्रतिमावाला दिन को स्त्री सेवन करता होगा, नहीं! यहा तक इस सम्बन्धी कोई सूक्ष्म अतीचार रूप दूषण लगते थे, यहा उनकाभी त्याग हुआ (किसन क्रिया कोष)। सागारधर्मांमृतमे स्पष्ट कहा है कि इस प्रतिमावाला स्त्रीके ऋतुमती होने पर चतुर्थ-स्नानके पीछे, सतानोत्पित्तके निमित्त रात्रिको कदाचित् ही सेवन करता है। यह अत्यन्त विरक्त, काम-इन्द्रिय दमन करने वाला होता है।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामे यह भी कहा है कि इस प्रतिमावाला रात्रिको गृहसम्बन्धी व्यापार, लेन-देन वाणिज्य-व्यवहार व गृहस्थीसम्बन्धी चूल्हा, चक्की आदि षट्कर्मोंका आरम्भ न करे अर्थात् सावध (पाप के) व्यापारो को छोड़े। दौलत-क्रियाकोषमे रात्रिको मौन करना भी कहा है। सो उसका भाव ऐसा भासता है कि भोजन-व्यापारादि सबधी विकथा न करे, धर्मचर्चाका निषेध नहीं। समाधितन्त्रमे कहा है कि रात्रिको गमन न करे। सो यहा भी धर्मकार्यके लिये यत्नाचार-पूर्वक गमन का निषेध न जानना, अन्य सासारिक कार्योके लिये गमनागमनका निषेध जानना।

जो पुरुष इस प्रकार निरतिचार रात्रिभोजनत्याग करता है, उसको रात्रिभोजनसबधी सम्पूर्ण पापास्रव रुक जाते और सयमरूप रहनेसे पुण्यका वध होता है। पुन दिनको कामसेवन सम्बन्धी दोषो के निवारण करनेसे शारीरिक बल, तेज, कान्ति बढती और वीर्यान्तरायका विशेष क्षयोपशम होकर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने मे सहायता पहुचती है।

सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा

जो ज्ञानी पुरुष, स्त्रीके शरीर को मलका बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाला, मलप्रवाही दुर्गन्धयुक्त, लज्जाजनक निश्चय करता हुआ सर्व प्रकारकी स्त्रियो मे मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे काम सेवन तथा तत्सम्बन्धी अतीचारोका त्याग करता और ब्रह्मचर्यकी दीक्षामे आरूढ होता है सो ही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहाता है।

ब्रह्मचारीके चेतन-अचेतन सर्व प्रकारकी स्त्रियो से उत्पन्न हुए मैथुनके दोषोके त्यागसे नीचे लिखे अनुसार शीलके अठारह हजार भेद होते है। यद्यपि इन दोषोका त्याग पाक्षिक अवस्थासे ही आरम्भ हो जाता है, तथापि स्त्री-सेवनका सर्वथा त्याग न होने से यथार्थ ब्रह्मचर्य नाम नहीं पा सकता। निरतीचार त्याग इसी प्रतिमा मे होता है। यहा वेदकषायकी इतनी मदता हो जाती है कि जिससे काम वेदना सम्बन्धी मूर्च्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यही मदता क्रमश बढते-बढते नवमे गुणस्थानमे वेदकषायका सर्वथा अभाव हो जाता है, जिससे आत्मा वेद कषाय जनित कुशीलकी मलिनतासे रहित हो जाती है।

शीलके १८,००० भेद—देवी-मनुष्यनी-तिर्यचनी तीन प्रकारकी चेतन स्त्रियोको मन-वचन-काय तीनों योगो करके कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र पचेन्द्रियोके वशीभूत होकर आहार भय मैथुन परिग्रह चार सज्ञाओ युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकारसे अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय करके सेवन करने से $(३ \times ३ \times ३ \times ५ \times ४ \times २ \times १६) = १७,२८०$ भेदरूप दोष चेतन स्त्री सम्बन्धी कुशील के होते हैं ।

चित्र या लेप मिट्टीकी काष्ठकी पाषाणकी वनी हुई तीन प्रकारकी अचेतन स्त्रियों के मन-कार्य^१ दो योगो द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना करके, पच इन्द्रियोके वशीभूत, ४ संज्ञायुक्त, द्रव्य-भाव दो प्रकार सेवन करनेसे $(३ \times २ \times ३ \times ५ \times ४ \times २) = ७२०$ भेदरूप दोष अचेतन स्त्री सम्बन्धी कुशीलके होते हैं ।

इस प्रकार चेतन-अचेतन दोनों सम्बन्धी अठारह हजार कुशीलके भेद हुए । इन भेदो द्वारा लगते हुए कुशील के दोषो का जैसा-जैसा त्याग होता जाता है, वैसे-वैसे ही शीलगुण प्राप्त होते जाते हैं ।

यहा चेतन स्त्री सबधी भेदो मे प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवागनाका मनुष्य कायद्वारा सेवन कैसे संभव है ? उसका समाधान—कोई देवांगना किसी मनुष्यके पास किसी कारण विशेषसे आवे जैसा कि रामचन्द्रजीके पास सीता का जीव सीतेन्द्र देवागनाका रूप धारण कर आया था, या कोई मनुष्य मन्त्रबलसे किसी देवागनाको वश करे और परिणाम विगड़नेसे आलिंगन करे या पकड़ लेवे तो, धातु उपधातु रहित वैक्रियक शरीर और श्रौदारिक शरीरका सभोग असंभव होते हुए भी स्पर्शन मात्रसे काय सम्बन्धी कुशीलका दोष संभव हो सकता है ।

यहा दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अचेतन स्त्री सबधी भेदोमे चित्राम-काष्ठ-पाषाण की स्त्रियोंका त्याग कराया, सो इनसे कुशीलसेवन कैसे सम्भव हो सकता है ? उसका समाधान—केवल स्त्री सेवन ही करना कुशील नहीं है किन्तु मूर्च्छापूर्वक मन-वचन-कायकी कुशील सेवनरूप प्रवृत्ति-रूप होने से भी कुशीलका दोष आता है ।

१ अष्टपाहुडके शीलपाहुडकी टीकामे स्पष्ट कहा है कि अचेतन स्त्रीके वचन नहीं होता, इससे कोई उससे कुशील सम्बन्धी वचन नहीं कहता । पुन चर्चा समाधान मे अचेतन स्त्री सम्बन्धी भग इस प्रकार भी कहे हैं—चित्राम-काष्ठ-पाषाणकी तीन प्रकार स्त्रियोंको, मन करि, कृत-कारित अनुमोदना करि, पचेन्द्रियके वश, १६ कषाय युक्त होकर विषयकी वाछा से $(३ \times १ \times ३ \times ५ \times १६) = ७२०$ भेद होते हैं ।

शीलव्रतकी नव बाड़ी—ब्रह्मचर्यव्रतको निर्दोष पालन करनेके लिये नीचे लिखी हुई शीलकी रक्षक नव बाड़ीकी रक्षा करना आवश्यक है। जैसे बाड़ी खेतकी रक्षा करती, वैसे ही ये नव बाड़ी शीलकी रक्षा करती हैं। अन्यथा इनके भग करनेसे शीलव्रतका भग होना सम्भव है।

तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, देख रीझ भाखन मधु बैन।
 पूरव भोग केलि रसचितन, गरुय अहार लेत चित चैन॥
 कर शुचि तन शृ गार बनावत, तिय पर्यंक मध्य सुख सैन।
 मन्मथ-कथा, उदर भर भोजन, ये नव वाडि जान मत जैन॥

अर्थ—(१) स्त्रियोके सहवासमे न रहना (२) स्त्रियों को प्रेम रुचिसे न देखना (३) स्त्रियोसे रीझकर मीठे-मीठे वचन न बोलना (४) पूर्वकाल मे भोगे हुए भोगो का चितवन न करना (५) गरिष्ठ आहार नही करना (६) शृ गार-विलेपन करि शरीर सुन्दर न बनाना (७) स्त्रियो की सेज पर न सोना (८) काम-कथा न करना (९) भरपेट भोजन न करना—ये शीलकी रक्षक ९ बाड़ी जैनमत मे कही हैं।

इसी प्रकार श्री ज्ञानार्णवमे भी ब्रह्मचारी को नीचे लिखे हुए मैथुन के १० दोष टालनेका उपदेश है (१) शरीर शृ गार करना (२) पुष्टरस सेवन करना (३) गीत, नृत्य, वादित्र, देखना-सुनना (४) स्त्रियोकी सगति करना (५) स्त्रियो मे किसी प्रकार काम-भोगसम्बन्धी सकल्प करना (६) स्त्रियो के मनोहर अंगोको देखना (७) स्त्रीके अंगोके देखने का सस्कार हृदयमे रखना (८) पूर्वमे किये हुए भोगो का स्मरण करना (९) आगामी काम-भोगो की वाछा करना (१०) वीर्य पतन करना।

स्त्रियोके वशवर्तीपना होनेसे अतरंग मे दाह और पापकी वृद्धि होती है, सुख-शान्तिका नाश होता है। अतएव जो धार्मिक पुरुष, स्त्री सम्बन्धी पराधीनता छोड़ दुर्जय काम को जीत ब्रह्मचर्य पालते हैं, वही सच्चे साहसी सुभट हैं। युद्ध मे प्राण विसर्जन करते वाले शूर उनके सामने तुच्छ हैं क्योंकि ऐसे युद्ध शूर काम द्वारा जीते हुए हैं, अतएव इस जगज्जयी काम सुभटको जिन ब्रह्मचारियो ने जीता, वे ही मोक्षमार्गी महासुभट, धन्य है। इस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होकर आत्मशक्ति बढ़ती, तप उपवासादि परीषह सहज ही जीती जाती, गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आकुलता घटती परिग्रहकी तृष्णा घटती, इन्द्रिया वशमे होती, यहातक कि वाक्शक्ति स्फुरायमान हो जाती है। ध्यान करने मे अडिग

चित्त लगता और अतिशय पुण्यबन्धके साथ-साथ कर्मों की निर्जरा विशेष होती, जिससे मोक्षनगर निकट हो जाता है ।

अष्टम आरम्भत्याग प्रतिमा

जो श्रावक हिंसा से अति भयभीत होकर आरम्भ^१ को परिणामोमे विकलता उत्पन्न करनेवाला जान गृहसम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ स्वयं नहीं करता और न दूसरोसे कराता है, सो आरम्भत्याग प्रतिमाधारी है । इसके मन-वचन-काय, कृतकारित से गृहसम्बन्धी पापारम्भ का त्याग होता है, अनुमोदना (अनुमति) का त्याग नहीं होता । अनुमोदना का अर्थ सम्मति सलाह या अभिप्राय देना है, आज्ञा देना नहीं है । यथा—“यह काम तुमने भला किया या बुरा किया”, “इसमें हानि होगी, इसमें लाभ होगा” आदि । यदि पुत्रादि व कुटुम्बी, घरके काम काजकी वा व्यापार सम्बन्धी सलाह पूछे तो सम्मतिरूप उसके हानि लाभ बता देवे, परन्तु उस कामके करनेकी प्रेरणा न करे । यदि भोजन सम्बन्ध में पूछे, तो अपना त्याग आखड़ी बता देवे या अनिष्ट हानिकारक वस्तुओका निषेध कर देवे, परन्तु अमुक-अमुक वस्तु बनाना, ऐसी आज्ञा न देवे ।

आरम्भत्यागी हिंसा से भयभीत हो सन्तोष धारण कर धनसम्पदासे ममत्व घटाता हुआ सर्व प्रकारके व्यापार-धन्धे करना छोड़े तथा गृहारभ नहीं करे । गृहसम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् पीसना, दलना, कूटना, छडना, रसोई बनाना, बुहारना, भाडना, जल भरना आदि गृहारभ तथा व्यापार-धन्धे आदि आजीवी आरभ नहीं करे । उद्यमी, आरभी दोनों प्रकारकी हिंसा तजे ।

यहां रत्नाचारपूर्वक पूजनादि सम्बन्धी अल्पारम्भका त्याग नहीं है (सा घ) तथा यह भी कहा है कि ये पूजा आदि धर्मकार्य हिंसायुक्त न हो, क्योंकि धर्मारम्भ प्राणिवधका अंग नहीं है, धर्मारभ वही है जहां प्राणिरक्षा संभव हो । जल भरना, द्रव्य धोना आदि आरभ न करे, द्रव्य चढावे, पूजा करे ।

यहां कोई सदेह करे कि जब आरम्भत्याग प्रतिमामे सेवा-कृषि-वाणिज्यादि आरम्भका त्याग हुआ है तो सप्तम प्रतिमा तक कृषि तथा युद्ध सम्बन्धी आरम्भ करता होगा ? उसका समाधान—यह बात संभव नहीं होती कि सचित्त भक्षणको त्याग, ब्रह्मचर्य धार, उदासीन अवस्था

१ जिन क्रियाओ में षट्काय के जीवोंकी हिंसा हो, सो आरम्भ है ।

अगीकार कर स्वयं हलवखरसे खेत जोते, बोवे, या युद्ध करके सहस्रो जीवोंका आँखों देखते घात करे। सर्वार्थसिद्धि टीकामे भाषाटीकाकार प० जयचन्दजीने कहा है कि कुटुम्बके शामिल रहने से यहातक कुछ अति-चार दोष लगते थे, सो यहा उनका यथावत त्याग हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारकका सामान्य गृहस्थों की नाई अन्य व्यापार धन्धोंमें सलग्न रहना सम्भव नहीं, क्योंकि जैसी-जैसी कपाय घटती जाती है तदनुसार ही आरम्भ भी घटता जाता है।

आरम्भत्यागी अपने हाथ से भोजन बनाता नहीं, और न दूसरोंसे कहकर बनवाता है। अपने घर या पराये घर न्यौता हुआ जीमनेको जाता है और जिह्वा इन्द्रियके स्वाद में अशक्त न होता हुआ लघु भोजन करता है।

आरम्भत्यागी को चाहिए कि अपने गृहमें जो द्रव्य हो, उसमें अपनी इच्छानुसार कुटुम्बका योग्य विभाग करके अपने योग्य आप ग्रहण करे, अन्य धनसे ममत्व तजे और नया धन उपार्जन नहीं करे। अपने पासके धनको दान-पुण्य-यात्रादि धर्मकार्यों में लगावे। यदि भाग्य योगसे अपने पासका धन चोरी चला जाय, नष्ट हो जाय, तो कर्मोदयका ऋण चुका जान सतोष करे, आकुल-व्याकुल न हो।

यहा कोई प्रश्न करे कि धन पास रखे, तो धन्धा करेही करे अथवा रोटी बनावे बनवावे ही, नहीं तो धन रखने से क्या प्रयोजन? इसका उत्तर—यह जो अल्प धन अपने पास रखता है, वह धर्मानुकूल दान, पुण्य, तीर्थादिमें व्यय करने तथा अपने वस्त्रादि लेनेके लिए रखता है। उस धनको, वह हिंसा आरम्भके कार्योंमें कदाचित् भी नहीं लगाता, क्योंकि इससे उसकी प्रतिज्ञा भग होती है।

फिर कोई प्रश्न करे कि आरम्भत्यागीको घरके या अन्य लोग भोजनको न बुलावे तो वह क्या करे? अथवा कोई साथका त्यागी बीमार हो जाय तो भोजन बनाकर खावे, खिलावे, या नहीं? इसका समाधान—प्रथम तो यह बात असम्भव है कि सच्चे धर्मात्मा-त्यागीको आहारकी योग्यता न मिले, अवश्य मिले ही मिले। दूसरे त्यागीको भी चाहिए कि जिस क्षेत्रमें धर्मसाधनकी अनुकूलता (सहायता) देखे, वहां श्रावकसमूहके साथ रहे। आगमका भी तो यही उपदेश है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता देखकर हरएक व्रत-आखड़ी-प्रतिज्ञा धारण करे, क्योंकि बिना

योग्यताके त्यागी या प्रतिमाधारी होनेसे कुछ भी कल्याण नहीं होता । कषाय, ममत्वभाव तथा इनके बाह्य आलवनोको छोड़ने और विरागता के साधक कारणों को मिलानेसे ही प्रतिमा धारण करनेका यथार्थ फल हो सकता है ।

सप्तम प्रतिमा तक अपने हाथ से कुल काम अपनी आजीविका सम्बन्धी कर सकता है । भोजन बनाना, सवारी आदि पर चढ़कर इधर-उधर जाना आदि आरम्भ हो सकता है परन्तु इस प्रतिमामे इन सब आरम्भोका त्याग हो जाता है । इसलिए जिसकी आरम्भ रूप प्रवृत्ति करनेकी इच्छा हो अथवा जो अपनी योग्यता आरम्भत्याग निभाने योग्य न देखे, सो सप्तम प्रतिमारूप ही रहे, जैसे अनुकूलता देखे, वैसा करे । जब देखे कि मैंने सर्व आरम्भका काम पुत्रादिकों को सौंप दिया, मेरी आरम्भ करने रूप कषाय घट गई, मेरे पुत्र-पुत्रवधु आदि कुटुम्बी हर्षपूर्वक मुझे भोजनादि देकर निर्वाह करेंगे तथा साधर्मी भाई भोजन-पानादि सहायता में सावधान रहेंगे, तब इस आरम्भ त्याग प्रतिमा को धारण करे ।

आरम्भत्यागी घोड़ा, ऊट, गधा, बगधी, पालकी आदि सर्व प्रकारकी सवारी तजे, ऐसा सभी शास्त्रों^१ का मत है, क्योंकि इससे प्रमाद तथा हिंसा की उत्पत्ति होती है । इसीमें मोटर, रेल, जहाज आदि की स्वतन्त्र या परतन्त्र सवारिया भी गर्भित हैं । ये सब सवारिया आरम्भत्यागी की स्वतन्त्रता तथा विरक्तताको मूलसे नाश करनेवाली और धर्मका अपमान करानेवाली है ।

यद्यपि यहा सर्व प्रकारके वाहनो की सवारी करनेका निषेध है तथापि नदी पार होने के लिए नाव पर बैठकर जाने का निषेध न जानना क्योंकि नदी पार जाना अनिवारित है, इसमें प्रमाद-जनित दोष नहीं है । केवल हिंसाजनित अल्प दोष है, जिसके लिए प्रतिक्रमण विधान की परिपाटी है ।

आरम्भत्याग सम्बन्धी विशेष बातें—(१) अपने पुत्र-पुत्री आदि की सगाई, विवाहका आरम्भ आप स्वयं न करे, यदि कुटुम्बी आदि करे और सम्मति मागे तो देना ठीक ही है (२) वस्त्रादि न अपने हाथसे धोवे न दूसरो से

धुलावे, मलिन होने पर दूसरे धारण कर लेवे (३) स्थान मकान आदि बनाने सम्बन्धी निष्प्रयोजन बहु आरम्भ^१ का निषेध तो व्रतप्रतिमा में ही है, यहाँ अल्पारम्भ भी न करे (४) हलकी कीमतके सादे वस्त्र पहने (५) दीपक न जलावे^२ (६) रात्रिको गमन न करे। व्रतप्रतिमा ही से देखकर चलना, रात्रिको गमनागमन करना, दीपक यत्नाचारसे रखना आदि कार्य यथासम्भव हिंसा बचाकर किए जाते हैं, क्योंकि गृहारम्भ के कारण इन कामोके किए बिना चल नहीं सकता। अब आरम्भत्याग होनेसे इन कामोकी भी जरूरत नहीं रही (७) पखा न हिलावे (८) स्नान न करे, परन्तु पूजा के लिए अथवा अस्पृश्य के छूजाने पर तथा सूतक में शुद्धता निमित्त सामान्य रीतिसे स्नान करने का निषेध नहीं (९) वैद्यक, ज्योतिष, धातु, रसादिक नहीं करे (१०) कुएँसे जल भरकर या खानसे मिट्टी खोदकर न लावे। (११) चौमासे^३ में यहाँ-वहाँ ग्रामान्तरमें भ्रमण न करे। यद्यपि व्रतप्रतिमा से ही हिंसाके भयसे बहुधा चौमासे में यहाँ-वहाँ ग्रामान्तरमें भ्रमण न करता हुआ एक ही ग्राममें यत्नाचार पूर्वक धर्म सेवन करता था, परन्तु गृहारम्भके कारण सर्वथा नियमरूप नहीं था। अब आरम्भत्याग होने पर चौमासे भर एक ही स्थान में रहकर धर्मध्यान करे और गृहत्यागी तो प्रतिमास ही इसका विचार रखे।

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पादि षट् आजीवी कर्मों और पचसूत सम्बन्धी आरम्भ क्रियाओके त्याग करनेसे हिंसादि पापोका अभाव होता, सयमरूप रहनेसे पुण्यबन्ध होता और सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि आरम्भ सम्बन्धी विकल्पोके अभावसे आत्मकार्यमें चित्तवृत्ति भलीभाँति स्थिर होने लगती है जो परंपराय आत्मकल्याणका कारण है।

नवम परिग्रह-त्याग प्रतिमा

जो धार्मिक श्रावक रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रहोकी मन्दतापूर्वक क्षेत्र-वस्तु आदि दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोमेंसे आवश्यक वस्त्र और

१ आवश्यकता से अधिक शोक तथा व्रडप्पन के वास्ते मकान न बनवाना।

२ कोई-कोई कहते हैं कि स्वाध्याय के वास्ते दीपक और धर्मकार्यके निमित्त प्राशुक भूमिमें गमन कर सकता है।

३ अपाढकी अष्टाह्निकाके आरम्भ से कार्तिककी अष्टाह्निकाके अत तक चौमासा कहाता है। इसमें वपकि कारण उस जीवोकी प्रचुर उत्पत्ति होती है।

पात्रके सिवाय शेष सब परिग्रहोको त्यागता है और सन्तोषवृत्ति धारण करता है, वह परिग्रहसे विरागी परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है।

वाह्य परिग्रह दश प्रकार के हैं (१) क्षेत्र-खेत—वाग, वगीचा आदि (२) वास्तु—घर, महल, हवेली, किला आदि रहनेके स्थान (३) हिरण्य—चादी के गहने तथा रुपया आदि मुद्रा (४) सुवर्ण—सोने के गहने तथा मुहर-गिन्नी आदि सुवर्ण मुद्रा (५) धन—गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशु (६) धान्य—चावल, गेहूँ आदि अनाज (७) दासी—नौकरानी, हजूरनी (८) दास—नौकर, चाकर, हजूरिया (९) कुप्य—कपास, सन, रेशम आदि सर्व प्रकारके वस्त्र (१०) भांडे—सर्व प्रकारके वर्तन।

इन उपर्युक्त दश प्रकारके वाह्य-परिग्रहोंके त्यागनेसे मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक वेद^१ ये १४ प्रकारके अतरग-परिग्रह भी क्रमशः मन्द पड़ने लगते हैं क्योंकि वाह्य-परिग्रहका त्याग कारणरूप और अतरग परिग्रह की मन्दता एवं अभाव होना कार्यरूप है।

वाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारका परिग्रह पापोत्पत्ति तथा आकुलताका मूल है ऐसा निश्चयकर वाह्य परिग्रहको छोड़ते हुए अपने मनमें अति आनन्द माने और ऐसा विचार करे कि आज का दिन धन्य है जब मैं आकुलताओं और बन्धनों से छूटा।

वाह्य परिग्रहका त्याग अतरग मूर्च्छाके अभावके लिए किया जाता है। यदि किसीके पास वाह्य परिग्रह कुछ भी न हो और अतरगमें मूर्च्छा विशेष हो, तो वह परिग्रही है, क्योंकि यथार्थमें मूर्च्छा ही परिग्रह है। अतएव भेदविज्ञानके बलसे अतरग मूर्च्छाको मन्द करते हुए वाह्य-परिग्रह छोड़ना चाहिए, तभी परिग्रहत्यागजनित निराकुलित सुख की प्राप्ति हो सकती है।

परिग्रह-त्याग प्रतिमावाला केवल शीत-उष्णकी वेदना दूर करनेके निमित्त अल्प मूल्यके सादे वस्त्र के सिवाय अन्य सब धन-धान्यादि परिग्रह मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदनासे त्यागे। छोटा पना (अर्ज) की ६ हाथ लम्बी (समाधितन्त्र) धोती पहनने को रखे, एक धोती तथा पछेवडी

१ किसी-किसी ग्रथमें एक ही वेद कहकर शेष दो वेदोंके स्थानमें राग, द्वेष कहे हैं।

ओढनेको रक्खे, शिरपर बाधनेको एक अगोछा (पोत्या) तथा नरम पू जणी या एक छोटा सफेद रुमाल (अलफी) पृथ्वीपरके आगन्तुक जीवो की रक्षा (अलग करने) के निमित्त रक्खे । विस्तर न रक्खे, चटाई पर सोवे । अल्प-मूल्यका तावे या पीतलका जलपात्र तथा एक भोजनपात्र रक्खे (भगवती आराधना) । घरका भार पचोकी साक्षीपूर्वक पुत्र-भाई-भतीजे आदिको, जो गृहस्थी चलाने योग्य हो, सौपे । जो दान-पुण्य करना हो, करे, और सबसे क्षमापूर्वक धर्मसाधनकी आज्ञा लेवे । और ऐसा निश्चय करे कि अब मेरा-इनका कुछ भी सासारिक सम्बन्ध नहीं रहा, अन्य सार्धर्मियो सरीखे इनको भी समझे, अपना-पराया घर एकसा समझे, भोजन अपने या पराये घर न्योता हुआ जाकर करे ।

परिग्रहत्याग प्रतिमा सम्बन्धी विशेष बातें—परिग्रहत्यागीको इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिए (१) स्त्री-पुत्रादि, औषधि, आहार-पान आदि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा-टहल करे तो ठीक, न करे तो आप उन पर दवाव न डाले और न अप्रसन्न हो (२) जो गृहत्यागी हो तो कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूत्रा - सूतक न माने, परन्तु जो गृहवासी हो तो गृहस्थीमे शामिल होने के कारण सूत्रा-सूतक माने^१ (३) अव्रतीसे^२ टहल न करावे (४) लौकिक वचन न कहे (५) रागादि-मकान-मठ आदिमे न रहे (६) नौकर-चाकर नहीं रखे (७) परिग्रह-त्यागीको द्रव्यपूजनकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि द्रव्यपूजनमे मुख्यता त्यागधर्मकी है सो अब धनादि परिग्रहका सर्वथा त्याग हो गया, अतएव भावपूजन ही करे । (८) जिस प्रकार अशुद्धता और अमर्यादापूर्वक वर्तमान वडीं-वडी जेवनारो मे रसोई बनती है ऐसी रसोई प्रथम प्रतिमा-वाला भी न जीमे, क्योंकि उसमे पच उदम्बर, तीन प्रकारका दोष आता है । हा । यदि मर्यादा और शुद्धतापूर्वक वने, तो नवम प्रतिमावाला तक न्योता हुआ जाकर जीम सकता है (९) बाली, अगूठी आदि सर्व प्रकारका गहना तजे (१०) बिना दिया जल, मिट्टी भी न लेवे (अष्टमी प्रतिमामे हिंसा आरम्भके कारण लेने का त्याग था, यहा परिग्रह अपेक्षा निषेध है) ।

१ जान पडता है कि व्रतप्रतिमासे लेकर किसी भी प्रतिमामे गृहत्यागी होने पर उसके कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूत्रा-सूतक नहीं माना जाता, क्योंकि अब उसके कुटुम्ब सम्बन्ध नहीं रहा ।

२ जिसके अष्टमूल गुणोका धारण न हो, सो अव्रती जानना ।

परिग्रहसे आरम्भ, चिन्ता, शोक, मदादि पाप उपजाते हैं जो मूर्च्छा (चित्त की मलीनता) का कारण हैं। अतएव सन्तोष निमित्त मूर्च्छाको घटाना और परिग्रहत्याग करना आवश्यक है। परिग्रहत्याग प्रतिमाके धारण करनेसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सर्व भार उतर जाता है, जिससे निराकुलताका सुखानुभव होने लगता है।

दशवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा

जो पुरुष आरम्भ परिग्रह की अर्थात् सांसारिक सावद्य कर्म विवाह-आदिक तथा गृह बनवाने, वनिज, सेवा आदिकामोके करनेकी सम्मति उपदेश नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता, समबुद्धि है, वह श्रावक अनुमति-त्याग प्रतिमावारी कहाता है।

नवमी प्रतिमा तक स्त्री-पुत्रादिको गृहस्थी सम्बन्धी पच सूनो, षट् आजीवी कर्मों, इष्टभोजन व विवाहादि करनेकी सम्मति देता था, अनुमोदना करता था, सो अब नहीं देवे और न उनके किये हुए कामकी “भला किया या बुरा किया” आदि अनुमोदना करे।

उदासीनतापूर्वक स्त्री-पुत्रादि से अलग निज घर, चैत्यालय अथवा मठ-मण्डपादिमे रहकर धर्मध्यान करे, कुटुम्बी अथवा अन्य श्रावकोके घर जीमनेके समय बुलाने पर भोजन कर आवे, न्योता न माने, अपने अतराय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार कड़ुवा, खारा, खट्टा, अलूणा जैसा भोजन प्राप्त हो, उसीमे सन्तोष करे। रागद्वेष न करे। भला-बुरा न कहे।

किसीके पुत्रजन्म, द्रव्यलाभ विवाह आदि शुभ कार्योंका अथवा मारना, पीडा देना, वाधना आदि अशुभ कार्योंका चिंतवन न करे। लौकिक (पाप) कर्मोंका उपदेश वा आदेश न करे, ईर्यासमितिपूर्वक गमन करे, भाषासमितिसहित वचन बोले। यद्यपि पाचो समितियों का विचार व्रत प्रतिमासे ही यथायोग्य रक्खा जाता है तथापि यहा से इन दो समितियों पर और भी विशेषरूपसे ध्यान देवे।

गृहत्यागी ब्रह्मचारी गृह त्यागनेपर और गृहवासी, दशवी प्रतिमा धारण करनेपर कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूत्रा-सूतक न माने, क्योंकि गृहस्थपनेसे अलग हो गया।

ऐलक-क्षुल्लक कही भी जावे तो सदा पीछी, कमडल साथ

रखे, क्योंकि ये उसका चिन्ह (बाह्य मुद्रा) है। उसी प्रकार दशवी प्रतिमावाला जीवो की रक्षा निमित्त नरम पू जडी या रुमाल और शौच निमित्त जलपात्र रखे। पहिरने वा ओढ़ने के लिए छह-छह हाथ वस्त्र रखने की आज्ञा है। चटाई पर सोवे।

सागारधर्ममृत और धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे भोजनमें अनुमति त्याग होनेके कारण दशवी प्रतिमावालेको भी भिक्षुक सज्ञा कही है। वह ठीक ही है परन्तु यथार्थमे सच्चे भिक्षुक मुनि ही है।

गृहचारा सम्बन्धी आरम्भकी अनुमोदना करनेसे भी पापका सचय और आकुलताकी उत्पत्ति होती है, अतएव अनुमति-त्याग होनेसे पच-पापका नव-कोटिसे त्याग होकर पापान्वय क्रियाएँ सर्वथा रुक जाती हैं। पुनः आकुलताके अभाव होनेसे चित्त की विकलता दूर होती, जिससे मन वश होकर इच्छानुसार धर्मध्यानमें शीघ्र स्थिर होने लगता है।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा

जो (गृहवासी) अनुमति त्यागी श्रावक, चरित्रमोहके मन्द हो जानेसे उत्कृष्ट चारित्र्य अर्थात् दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्र्याचार-तपाचार और वीर्याचार इन पचाचारो की प्राप्ति एव रत्नत्रयकी शुद्धता निमित्त, पिता-माता भाई, स्त्री, पुत्रादि, परिजनसे क्षमा कराकर, वनमे जानेकी आज्ञा ले गुरु के निकट जाकर उद्दिष्टत्याग प्रतिमा (प्रतिज्ञा) धारण करता है, वह उद्दिष्ट-त्यागप्रतिमा धारक कहाता है।

यदि कालदोषसे निर्ग्रन्थ-गुरुका समागम न मिले तो श्रीजिनेन्द्र देवकी प्रतिमाके सन्मुख साधर्मियोंकी साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा लेवे। इसी प्रकार जो पुरुष दशवी प्रतिमा तक गृहवासी रहा हो, वह ऊपर कहे अनुसार कुटुम्बियों से भी आज्ञा लेवे और जिसने पहिले ही गृहत्याग कर दिया हो, उसे कुटुम्बियोंसे क्षमा कराने वा आज्ञा लेनेकी आवश्यकता नहीं। सिवाय इसके ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि आपको वैराग्य उत्पन्न हो और कुटुम्बी आज्ञा न दे तो उद्दिष्ट-त्याग या मुनिव्रत अंगीकार न कर सके। किन्तु आज्ञा मागने और उनको भी ससार-शरीर-भोगोकी अनित्यता बताने और उनसे राग हटाने की पद्धति है, सो जैसा देखे वैसा करे।

उद्दिष्ट आहार त्यागी मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना सन्बन्धी दोषरहित, भिक्षाचरणपूर्वक, याचना-रहित आहार ग्रहण करे।

अपने निमित्त^१ बनाया हुआ, अभक्ष्य, सचित्त तथा सदोष आहार न ले। यमरूप हरी तथा रसादिकके त्याग का परिपालन करे। पानी वरसतेमें आहारको नहीं निकले, क्योंकि इससे ईर्यापथ शुद्धि नहीं पलती तथा आहारमे अतिगृह्यता सूचित होती है। आहारको जावे तब न तो जल्दी-जल्दी चले, न धीरे-धीरे। समभावसे चले। इधर-उधर न देखे, नीची दृष्टि से जीव-जन्तुओंकी रक्षा करता हुआ मौन-सहित, ईर्यासमिति पालता हुआ जावे।

यद्यपि सागारधर्मावृत्तमें उत्कृष्ट श्रावक होनेकी अपेक्षा अनुमति-त्यागीको भी अतिथि कहा है। तथापि उत्कृष्ट श्रावक एव उद्दिष्टत्यागी ऐलक-क्षुल्लकसे ही यथार्थमें अतिथिपना आरभ होता है। क्योंकि इनके आहार तथा गमनागमनकी तिथि नियत नहीं रहती। ये उदड आहार-विहार करते हैं, इसीलिये अचानक ही भोजनके लिये निकलते हैं। यथार्थमें उत्कृष्ट अथिति मुनि ही है क्योंकि अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वोंमें प्रोषधो-पवासका भी उनके नियम नहीं, इसलिये वे सार्थक नामधारक अथिति है।

उद्दिष्टत्यागी जब आहारके निमित्त निकले और द्वारापेक्षण करता हुआ श्रावक यथायोग्य नवधाभक्ति एव विधिपूर्वक पडगाहे तो उद्दिष्ट-त्यागीको उचित है कि दाताका उत्साह वा योग्य भक्तिभाव देखकर योग्य क्षेत्र-कालमें शुद्ध लघु भोजन शान्तभाव पूर्वक करे।

जल-भोजन एक ही बार लेवे, दातृन कुरला भी न करे, जो अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे। मुनिसंघमें या अपने समान त्यागियोंके संघमें रहे, अकेला भ्रमण न करे, क्योंकि दूसरे संघोंकी सहायताके बिना व्रत दूषित हो जाना संभव है।

सासारिक विषय-कषायोंके कारणोंसे अलग वन-मठ-मंडप-वस्तिकादि एकान्त स्थानमें रहे। वस्तीमें न रहे। रात्रिको एकान्त स्थानमें ध्यान धरे।

शौचके निमित्त अल्प-मूल्यका तथा चौड़े मुहका कमडल रखे, जिसमें धोने, साफ करनेके लिये हाथ अच्छी तरह जा सके। भोजन-पात्र साधारण रखे, जिसमें न शौकीनी मालूम पड़े न विलकुल लघुता। भूमि,

१ यदि मालूम पड जाय कि गृहस्थने यह भोजन मेरे ही निमित्त बनाया है तो ग्रहण न करे और अंतराय माने। इसी प्रकार पीछी, कर्मण्डल, वसतिका भी अपने निमित्त बनाई हुई जाने, तो ग्रहण नहीं करे।

शरीर, संस्तर, पुस्तकादिको शोधने तथा जीवोंकी रक्षा निमित्त पिच्छिका (पीछी) और पढने के लिये आवश्यकीय शास्त्र-पुस्तकादि रखे ।

माथा उधाड़ा रखे । सोनेके लिये चटाई, बिछौना आदि न रखे, क्योंकि ये पदार्थ द्रव्य साध्य है, प्रमाद, भय, आकुलता तथा हीनताके उत्पन्न करनेवाले हैं । प्राशुक भूमि, काष्ठ के पटिये या पाषाणकी शिलापर अर्धरात्रि पीछे अल्प निद्रा ले । बीमारी आदिमे अन्य कोई चटाई बिछा देवे, या पियारका संस्तर कर देवे, तो उसपर लेटे ।

श्रावक दशामे दिवसमे प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान धरना वर्जित है, इसी प्रकार पीयूष वर्ष श्रावकाचार मे वीरचर्या अर्थात् कठिन-कठिन आखड़ी लेनेका भी निषेध किया गया है । रात्रिको एकान्तस्थानमे प्रतिमा योग धार ध्यान कर सकता है (वसुनदि श्रावकाचार) ।

इस उद्दिष्टत्याग प्रतिमाके दो भेद है (१) क्षुल्लक (२) अहिलक या ऐलक । इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

क्षुल्लक

क्षुल्लक भोजनके लिए उपयुक्त पात्र रखे । दातारके वर्तनमे भोजन करे और वर्तन भूठा छोड़ आवे, तो वह वर्तन मजने के लिये जब तक चाहे तवतक पड़ा रहे, जिससे त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसा होना सभव है । इसलिये वह अपने पात्रमे ही भोजन करके अपने हाथसे ही तत्काल माजकर लेता आवे, दूसरोसे न मजावे । ऐसा सागाधर्ममृतादि श्रावकाचारोमे कहा है । इस से क्षुल्लकोको पात्र रखना आवश्यक है ।

सफेद वस्त्रकी लगोटी लगावे, खड वस्त्र अर्थात् एक पन्ने की ३ हाथ लम्बी पिछोड़ी ओढ़नेको रखे, जिससे शिर ढँके तो पाव उघड़े रहे और पाव ढके तो शिर उघड़ा रहे । लगोटी बाधनेके लिये डोरेकी करघनी (कणगती) कमरमे रखे । कमडल, पीछी और पठन-पाठनके लिये शास्त्र रखना योग्य ही है ।

केश दूसरे, तीसरे, महीने उस्तरा (छुरा) से मुडावे या कतरनीसे कतरावे, अथवा लौच करे । डाढ़ी, मूछ नहीं रखे । काख तथा नीचेके बाल न कतरावे न बनावे (वसुनदि श्रावकाचार) ।

सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारोमे क्षुल्लकके आहारके दो भेद किये हैं (१) एक भिक्षा नियम—एक ही घर भोजन करना । (२) अनेक भिक्षा-नियम—पाच घर या अधिक घरोंसे भिक्षपात्रमे भिक्षा लेकर जब उदर भरने योग्य होजाय, तब आखिरी घर प्राशुक जल लेकर भोजन कर लेना और पात्र माज लेकर चले आना ।

सात मुहूर्त दिन चढ़े आहारको जावे—मार्गमे खड़ा न रहे, न अति शीघ्रतासे चले, न अति मंदतासे । अर्थात् ६ वजेके लगभग देव वदना करके आहारको जावे, १० वजे तक पहुँचे और १०॥ या ११ वजे तक लौट आकर मध्याह्नकी सामायिक करे ।

कई ग्रन्थोमे अपराह्नकाल अर्थात् दोपहरके पीछे चार वजे भी आहार लेनेको जानेंकी आज्ञा है, सो गृहस्थोके व्यालू अर्थात् अपराह्नकालके भोजनके पूर्व संभव है । जो प्रातःकाल भिक्षानिमित्त न गया हो तो अपराह्नकालमे जावे ।

भिक्षाको जावे तब गृहस्थके आंगन तक जावे, जहा तक सब लोग बिना रोक-टोक जा सकते हो, दरवाजा बन्द हो तो खोले नहीं । दाता देख लेवे और पडगाहे तो ठीक, नहीं तो तत्काल दूसरे घर चला जाय । भोजन निमित्त किसी प्रकारका इशारा या प्रार्थना न करे, दीनता न दिखावे । यदि अतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे ।

श्रावक विधिपूर्वक पडगाहे तो गृहमे जाकर हाथ-पाँवसे शुद्ध हो, यथास्थान बैठ निज पात्रमे एण्णा समिति पूर्वक अतराय^१ टाल भोजन करे । पात्र मांज लेकर अपने स्थान आवे और लगे हुए दोपो की गुरु के निकट आलोचना करे ।

चारो पर्वोमे पूर्व-प्रतिज्ञावत् प्रोषधोपवास अवश्य करे (सांगारधर्मा-मृत) । यथार्थ में उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं, उनके वृत्तिपरिसख्यान आदि कठिन-कठिन तप होते हैं, इसलिये वे अष्टमी-चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करने के लिये बाध्य नहीं हैं । परन्तु आरम्भिक अतिथि उद्दिष्टत्यागीको कठिन-कठिन आखड़ी लेने व तप करने की आज्ञा नहीं है इसलिये ये प्रोषधोपवास करनेके लिये बाध्य हैं ।

पट् आवश्यक नित्य अवश्य पाले । ईर्या समिति रूप चले । भाषा समिति बोल बोले । विकथा न करे, धर्मोपदेश देवे, शास्त्र पढे अथवा मौन रखे, आत्मचिंतन करे, शक्ति के अनुसार तप करे । अपने बैठने आदि के स्थानको कोमल उपकरणसे प्रतिलेपन करे । नहावे-धोवे नहीं । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, स्नान, गण, कुल, सघ, साधु, मनोज्ञ इन दश प्रकारके ऋषियोकी वैयावृत्ति करे ।

ऐलक

ऐलक कोपीन (लगोटी) लगावे, उसके बाधने को कमर मे डोरा (कणगती) रखे, दया निमित्त पीछी और शौच निमित्त कमडल सदा साथ रखे । बैठकर कर-पात्र से अथवा एक हाथ मे गृहस्थ (दाता) भोजन रखता जाय और बैठा हुआ ऐलक दूसरे हाथसे उठा-उठाकर भोजन करता जाय, खड़े होकर भोजन न करे, क्योंकि खड़े-भोजन करनेकी विधि मुनियो के लिये है, श्रावकके लिये नहीं है ।

डाढी, मूछ तथा माथे के वालोंका उत्कृष्ट दो माह, मध्यम तीन माह और जघन्य चार माह मे लौंच करे, इससे अधिक दिनोके लिए शास्त्राज्ञा नहीं है ।

आहारको जाय, तब ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक जाय, गृहस्थ के आंगनमें जाय "अक्षयदान" कहे (ज्ञाना श्राव.) । गृहस्थ पडगाहे तो ठीक, नहीं तो अन्य गृह चला जाय^१ । यदि अतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे । ऐलक एक ही घर का आहार ले (समाधि-शतक, प्रश्नो. श्रा.) ।

चारो पर्वों में उपवास करे । दिवस मे प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान न करे । रात्रिको नियमपूर्वक प्रतिमायोग धारण करे ।

सागारधर्माभूत तथा पीयूषवर्ष श्रावकाचारमे इनको भी वीरचर्या करनेका निषेध किया है अर्थात् जान-बूझकर कठिन-कठिन परीषह उपसर्गके सामने न जावे । सन्मुख आये उपसर्ग-परीषह को जीते । त्रिकाल-योग न घरे अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतुकी परीषह जीतने के सन्मुख न हो और न कठिन-कठिन आखडी करे ।

१. किसर्नासिह क्रियाकोष में कहा है कि ऐलक-झुल्लक पांच घरसे अधिक गोचरी के लिए नहीं जाय ।

सदा आत्मध्यानमे तत्पर मुनि-सघ मे रहे । उद्दिष्टत्यागी को शास्त्रोमे मुनिका लघुभाई कहा है । अतएव ग्यारहवी प्रतिमाका अभ्यास कर अवश्यमेव मुनिव्रत अगीकार करना योग्य है ।

उद्दिष्टत्याग करनेसे पाचों पाप तथा परतंत्रताका सर्वथा अभाव हो जाता है । इस प्रतिमाके अतमें अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते हैं । व्रत प्रतिमासे जिस प्रकार इन्द्रियविषयो में मूर्च्छा मन्द हो जाती और आरम्भ-परिग्रह घटते जाते हैं, वैसा-वैसा साम्यभाव बढ़ता हुआ यहा उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होकर मानो सामायिक-सयमके स्पर्शने को हाथ फैलाता है । निराकुलता-जनित स्वानुभवका आनन्द आने लगता है । इस प्रकार श्रावक-धर्मके पालक जीव नियमसे सोलहवें स्वर्ग तक जाकर महर्द्धिक देव अथवा इन्द्रादिका उच्च पद पाते हैं, क्योंकि जिस जीवके देवायु सिवाय अन्य आयु का बन्ध हो जाता है उसके परिणामो मे श्रावकव्रत धारण करने योग्य निर्मलता होती ही नहीं और जो श्रावकधर्मके धारक होते हैं उनके नियमसे देवायुका ही वध होता है । अतएव व्रती श्रावक निश्चयसे देव पर्याय पाकर वहां से चय, मध्यलोकमे चक्रवर्ती, मंडलीक आदि उत्कृष्ट होकर मुनिव्रत धारणकर मोक्षको प्राप्त होता है ।

बहुधा देखा जाता है कि कितने भोले भाई अतरगमे आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हुए भी विना तत्त्वज्ञान प्राप्त किये, दूसरोंकी देखा-देखी श्रावक-धर्मकी ग्यारह प्रतिमाओ मे कही हुई प्रतिज्ञाओमे से कोई दो, चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची-ऊँची यद्वा-तद्वा धारणकर त्यागी बन बैठते हैं और मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं जिससे स्वपरकल्याणकी बात तो दूर उल्टी धर्मकी बड़ी भारी हसी व हानि होती है । ऐसे लोग “आप डूबते पाडे, लै डूबे यजमान” की कहावत के अनुसार स्वत धर्म-विरुद्ध प्रवृत्तिकर अपना अकल्याण करते और दूसरों को भी ऐसा उपदेश दे उनका अकल्याण करते हैं । अतएव आत्म-कल्याणच्छु सुज्ञ पुरुषोको उचित है कि पहिले देव-गुरु-धर्मका स्वरूप अच्छी तरह जाने । पच-परमेष्ठीका स्वरूप पहिचानें । छः द्रव्य, सात तत्त्वोंके नाम, स्वरूपको भलीभाति समझें । आत्माके विभाव स्वभावोको जाने । विभाव तजने और स्वभावकी प्राप्ति के लिये कारणरूप श्रावक तथा मुनिव्रतकी साधक बाह्य-अतरग क्रियाएँ वा उनके फलको जानें, पीछे यथाशक्य चारित्र्य अगीकार करे । श्रावक धर्मकी ११ कक्षाओ (प्रतिमाओ) का अभ्यास करके पीछे मुनिव्रत धारणकर कर्मोंका नाश करें और परमात्मा वन स्वरूपानन्दमें मग्न हो ।

साधक-श्रावक (समाधिमरण)

व्रती श्रावक (नैष्ठिक) सदा सल्लेखना (समाधि) मरण करनेके उत्साही व अभिलाषी रहते हैं, इसलिये विषयो की मूर्च्छा तथा कषायोकी वासना मन्द करते हुए यथासभव पूर्णरीतिसे भलीभाँति व्रत पालन करते हैं। वहाँ जो श्रावक ससार-शरीर भोगोसे विरक्त होते हुए इन्द्रियो के विषय तथा कषाय तजकर मन-वचन-कायसे निज-स्वरूपको साधते हुए मरण करते हैं वे साधक श्रावक कहाते हैं।

मरण पांच प्रकारके हैं। (१) पडित-पडित मरण—जो केवली भगवानके होता है अर्थात् जिस मरणके होनेपर फिर जन्म-धारण नहीं करना पडता। (२) पडित-मरण—जो मरण मुनियोके होता अर्थात् जिस मरणके होने पर दो-तीन भवमे मोक्षकी प्राप्ति होती है। (३) बाल-पडित-मरण—जो देशसयमी (श्रावक) के होता है और जिसके होने पर सोलहवें स्वर्गतक की प्राप्ति होती है। (४) बालमरण—जो अविरत सम्यग्दृष्टिके होता और बहुधा स्वर्गकी प्राप्ति कराता है। (५) बाल-बालमरण—जो मिथ्यादृष्टिके होता है और चतुर्गति भ्रमणका कारण है।

हम कह चुके हैं कि श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओमे से हर कोई भी प्रतिमाधारी समाधिमरण कर सकता है। उसका मरण बालपडित मरण कहाता है। यहा साधक-श्रावकका वर्णन है इसी कारण बालपडित मरणका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।

सल्लेखना मरण, समाधिमरण, सन्यासमरण, ये तीनों एकार्थवाची हैं। भले प्रकार काय-कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं। चित्तको शांत अर्थात् रागद्वेषको मन्दतायुक्त करना समाधि कहाती है। अपनी आत्मासे पर-पदार्थोको भले प्रकार त्यागना सो सन्यास कहाता है। अतएव काय-कषायको कृश करते हुए, स्वरूप का ध्यान करते हुए, शांतचित्तयुक्त शरीररूपी गृहको त्यागना ही सुमरण है। इस प्रकार सुमरण करनेवाले भव्य पुरुष ही अपने साधे हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मको साथ ले जाते हैं और अधिक से-अधिक सात-आठ भवमे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष ऐसी उत्तम सर्व-योग्यताको पाकर समाधिमरण नहीं करते, वे मृत्युरूपी कल्पवृक्षको पाकर भी असावधान रह संसार-सागर मे डूबते हैं।

जब तक शरीर सर्वप्रकार धर्मसाधनके योग्य रहे, तबतक योग्य आहार-विहारादि द्वारा उसे नीरोग रखते हुए उससे धर्म-साधन में सहायता लेता रहे, कदाचित् कर्मोदयसे कभी कोई रोग आजाय, तो योग्य औषधि सेवन करे, परन्तु शरीर की रक्षाके निमित्त अन्याय, अभक्ष्य रूप एवं पदस्थ के अयोग्य उपचार कदापि न करे, क्योंकि इससे अपने रत्नत्रयात्मक आत्मिक गुणोंकी हानि होती है। जब देखे कि ऐसा कोई असाध्य रोग हो गया है जो धर्मसाधनका बाधक एवं नष्ट करनेवाला है, तो शरीर को अपकारी नौकरकी तरह समझ, निर्ममत्व होता हुआ उसे छोड़नेके लिये तत्पर हो। नाश होने योग्य, अपवित्र शरीरके निमित्त अपने धर्मको हानि कदापि न पहुँचावे और सावधानीपूर्वक समाधिमरण करे। क्योंकि शरीर तो फिर भी मिल सकता है परन्तु नष्ट हुआ रत्नत्रयधर्म फिर मिलना दुर्लभ है। जो आत्महितैषी रत्नत्रयधर्मकी रक्षाके लिये शरीर की कुछ परवा नहीं करते, उनका समाधिमरण स्तुति योग्य है। क्योंकि जो फल बड़े-बड़े कठिन व्रत-तप करने से प्राप्त होता है, वही समाधिमरण करनेसे सहजमे प्राप्त हो जाता है।

कोई-कोई अज्ञानी पुरुष समाधिमरणका अभिप्राय अच्छी तरह समझ विना धर्मसाधनके योग्य शरीर होते हुए और भले प्रकार धर्मसाधन होते हुए भी अज्ञान वा कषायवश विष, शस्त्रघातादिसे मरते, अग्निमें पड़ते, पर्वतसे गिरते, जीते हुए जमीनमें गड़कर समाधि लेते, झपापात करते, स्त्रिया सती होती अर्थात् मरे हुए पतिके साथ जीती जलती इत्यादि अनेक प्रकार अनुचित रीतिसे प्राण त्यागनेमें धर्म समझते हैं। इस प्रकार आत्मघात करना निन्द्य और नरकादि कुगति का ले जाने वाला है। हा, जो ज्ञानीपुरुष मरण के सन्मुख होते हुए या चारित्र्य भ्रष्ट होनेके कारण प्राप्त होते हुए, नि कषाय भावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं, उनका ऐसा सुमरण अज्ञान रागादि कषायों के अभावसे आत्मघात नहीं है किन्तु ज्ञान-पूर्वक मन्द कषायसहित होनेसे वर्तमानमें सुखका और परम्पराय-मोक्षप्राप्तिका कारण है।

समाधिमरण दो प्रकारका होता है . सविचारपूर्वक और अविचारपूर्वक।

(१) सविचार समाधिमरण

जब शरीर अति वृद्ध हो जाय अर्थात् चारित्र्यको हानि पहुँचानेवाला

बुढ़ापा आ जाय, दृष्टि अति मद हो जाय, पांवसे चला न जाय, ऐसा असाध्य रोग हो जाय जिसका इलाज होना असंभव हो, मरणकाल अति निकट आजाय, ऐसी दशाओमें काय-कषायको कृश करते हुए अन्तमें चार प्रकार आहार-त्याग धर्म-ध्यानसहित मरण करना, सो सविचार समाधि-मरण कहाता है ।

(२) अविचार समाधिमरण

जब विना जाने अचानक ही देव, मनुष्य, तिर्यच अथवा अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, घरमें आग लग जाय, निकलनेका कोई उपाय न रहे, बीच समुद्रमें जहाज डूबने लगे, साप काट खाय, इलाजका कोई अवसर न हो, महावनमें मार्ग भूल जाय, जहासे बाहर निकलना असंभव हो, चारित्र्य-नाशक शत्रु या प्राणघातक डाकू घेर ले, बचनेका कोई उपाय न रहे, अचानक दुर्भिक्ष आ जाय, अन्न पान न मिले, ऐसे अचानक कारणोंके आने पर अपने शरीरको तेलरहित दीपकके समान स्वयमेव विनाशके सन्मुख आया जान सन्यास धारण करे । चार प्रकार आहारका त्याग कर पच-परमेष्ठीके स्वरूपमें तथा आत्मध्यानमें लवलीन हो । यदि मरणमें किसी प्रकारका सदेह जाने, तो नियमरूप ऐसी प्रतिज्ञा करे कि “इस रोग-उपसर्ग-अग्नि आदि से जो मृत्यु हो, तो मेरे चार प्रकार आहारका तथा आत्मा सिवाय अन्य सब पदार्थों से भ्रमत्व भावका त्याग है । यदि इतने काल तक बचूंगा, या इस दुःख से बचूंगा, तो आहार-पान परिग्रहादि पूर्ववत् या इस प्रकार घटाकर ग्रहण करूंगा” । इस प्रकार एकाएक कायसे भ्रमत्व छोड़, शांत परिणामोयुक्त चार प्रकार आहारका त्याग कर समाधिमरण करना, सो अविचार समाधिमरण कहाता है ।

अविचारसमाधिमरण करने वाले को जैसा कुछ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कर्मयोगसे मिल जाय, उसीमें परिणामोकी स्थिरतापूर्वक आत्म-हित करना योग्य है परन्तु सविचार समाधिमरण करने वालेको तो समाधिमरणके योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मिलाना आवश्यक है । अतएव यहाँ चारोंका सक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है ।

द्रव्य—यद्यपि अविरत-सम्यग्दृष्टि तथा व्यवहार-सम्यग्दृष्टि भी अपनी योग्यतानुसार समाधिमरण कर सकते हैं तथापि साधक-श्रावकके प्रकरण में व्रतधारकको ही समाधिमरण करने का अधिकारी आचार्यों ने बताया है ।

क्षेत्र—जिस क्षेत्र में समाधिमरण कराने में तथा वैयावृत्ति करने में प्रवीण धर्मात्माओं का समागम हो, समाधिमरण करनेके विरोधी राजा-मन्त्री आदि न हो। सर्व प्रकारकी अनुकूलता हो, विशेष मोह ममत्वका कारण तथा स्त्री, नपुंसक, पशु आदिका सघट्ट वा कोलाहल न हो, जिस जगह विगेष शीत, ऊष्ण, ड्रास, मच्छर आदि बाधक कारण न हो, तथा क्षेत्र अपवित्र, असुहावना और दुर्गन्धित न हो।

काल—अपना शरीर बहुत वृद्ध तथा इन्द्रिया शिथिल होती जान अधिक-से-अधिक १२ वर्ष पेश्तरसे समाधिमरण करने योग्य सामग्रीका समागम मिलावे। समाधिमरणके लिये शीत ऋतु बहुत अनुकूल होती है। जिस समय उस क्षेत्रमें अकाल, मरी आदि चित्त-विक्षेपके कारण उपस्थित हो, उस समय समाधिमरण न माडे, क्योंकि ऐसे समय समाधिमरण कराने वालों का समागम मिलना व चित्त स्थिर रहना कठिन हो जाता है।

भाव—समाधिमरण करने वालेके परिणाम शोक-भय-चिन्ता-मोह-ममत्त्व रहित, ससार-शरीर-भोगोंसे विरक्त, मन्दकषाययुक्त, धर्ममें उत्साहवान् तथा आत्मकल्याणकी इच्छारूप हो।

यहां कोई प्रश्न करे कि वचपनसे ही धर्मसाधन करने तथा युवा अवस्थासे ही समाधिमरणके अभ्यास करनेकी क्या आवश्यकता है? जब मरणकाल समीप आवे, तभी धर्म-साधन या समाधिमरण करना योग्य है। उसका समाधान—जो पुरुष वचपन तथा जवानी में धर्म-मर्म तथा समाधि-मरणके स्वरूपसे अज्ञ रहते हैं, वे अन्तसमय धर्मध्यान पूर्वक शरीर छोड़नेको समर्थ नहीं हो सकते। जिस प्रकार युद्ध क्रियाका न जाननेवाला एव अभ्यासरहित पुरुष युद्ध के समय शत्रु के शस्त्रोंका प्रहार देखकर तथा मार-मारके भयकर शब्द सुनकर युद्धस्थलमें नहीं ठहर सकता और न शत्रुका सामना करके जय पा सकता है, उसी प्रकार जिसने पहिले से ही धर्मज्ञान की प्राप्ति तथा धर्मसाधन न किया हो, समाधिमरण करने योग्य परिणामों की निर्मलता-निर्ममत्व का अभ्यास न किया हो, समाधिमरणकी क्रिया देखी-सुनी न हो, वह अन्तसमय समाधिमरण नहीं कर सकता। जैसे मलिन वस्तु पर अच्छा रंग नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार उसको अत समय समाधिमरण करनेमें रुचि उत्पन्न होना असंभव है।

भगवती आराधना सारमें कहा है कि “जहांतक संभव हो, समाधि-मरण करनेवाला अत समय मुनिव्रत धारण करे। सर्व परिग्रह तजे। देहसे

निर्ममत्व हो शिर, डाढी मूँछके केश लीच करे, मयूरपिच्छिका धारण करे" । उत्कृष्ट प्रतिज्ञाधारको को (दशवी, ग्यारहवी प्रतिमावालोको) मुनिव्रत धारण करना सहज है, इसलिए उनको मुनिव्रत धारणपूर्वक ही समाधिमरण करना चाहिये । यदि कोई श्रावक उपसर्ग, परिषद् सहनेको असमर्थ हो या ऐसा सुअवसर तथा योग्यता उसे न मिले, तो अपने गृहमे वा गृहस्थ अवस्थामे ही एकांत स्थान मे दो-चार घर्मात्माओको पास रखकर अपना कार्य सुधारे ।

प्रथम ही अपने कुटुम्बी आदिको इस प्रकार सम्बोधन कर ममत्व छुटावे, "हे इस शरीरके माता-पिता-स्त्री-पुरुषादि । अब यह शरीरमरण अर्थात् नाशके सन्मुख हुआ है, तुम्हारा अब इससे कुछ भी प्रयोजन सघनेवाला नहीं है, हमारा-तुम्हारा इतना ही सयोग था सो पूरा हुआ । संयोग, वियोग की यही दंशा एक-न-एक दिन सबपर वीतने वाली है । एक दिन सबको कर्मजनित शरीरादि सामग्री छोड़ परलोक जाना है । इसलिये मुझसे मोह-ममत्व छोड़कर शांत भाव धारण करो और मेरे कल्याणके सहायक बनो" इस प्रकार उन्हे समझाकर निर्ममत्व हो, पुत्रादिकको गृहस्थी का भार सौंप, जिसको जो कुछ देना-लेना हो, देवे-लेवे । दान-पुण्य करना हो, करे । पीछे निःशल्य होकर अपने आत्मकार्य मे लगे ।

समाधिमरण करनेवाला सुहावने तथा स्वच्छ स्थानमे शुद्ध सस्तर^१ पर पूर्व या उत्तरको मुह करके बैठे (भगवती आरा०) सपूर्ण परिग्रहसे निर्ममत्व हो, पच-परमेष्ठीके प्रति अपने पूर्वकृत दुष्कर्मोंकी आलोचना करे, पश्चात् इस प्रकार द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतन करे—

१ अनित्य भावना

हे जीव । इस ससारमे किसी भी वस्तुका सयोग स्थिर नहीं है । राजा-राणा-चक्रवर्ती तथा साधारण पुरुष सभी अपनी आयु पूरी करके पर्यायान्तर को प्राप्त होते हैं । तेरी आयु भी क्षण-क्षण घट रही है । यौवन, शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, आदिका सयोग जलबुद्बुदवत् क्षणभंगुर है, ससारकी ऐसी अस्थिरता जान फिर तू निश्चित क्यों हो रहा है ? अपना आत्महित शीघ्र कर ।

१ स्वच्छ पवित्र मृत्वी तल पर, योग्यतानुसार पियार या घासका बिछौना हो अथवा उस पर ऊपर से एक स्वच्छ वस्त्र या चटाई हो ।

असंख्यात प्रदेश-प्रमाण वार उसी क्षेत्रमें उसी प्रकार जन्म ले, पश्चात् एक प्रदेश प्रमाण अधिक क्षेत्रको बढ़ाकर^१ जन्म ले, ऐसे क्रमसे श्रेणीबद्ध एक-एक प्रदेश बढ़ाता हुआ लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म ले । क्रमरहित प्रदेशोंमें जन्म लेना गिनती में नहीं, इस प्रकार लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों में जन्म तथा मरण करनेमें जितना काल लगे वह सब एक परक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो ।

(३) काल परिवर्तन—कोई जीव उत्सर्पिणीकालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ, मरकर ससारमें भ्रमण करता करता फिर किसी उत्सर्पिणीके दूसरे समय में उत्पन्न हो, इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें क्रमसे जन्म ले-लेकर उत्सर्पिणी के दश कोडा-कोडी सागर व अवसर्पिणी के दश कोडा-कोडी सागर इस प्रकार २० कोडा-कोडी सागर (कल्प काल) के समयोंको क्रमपूर्वक जन्म ले-लेकर पूर्ण करे, क्रमरहित गिनतीमें नहीं । ऐसा करनेमें जितना काल व्यतीत हो, वह सब एक काल-परिवर्तन जानो ।

(४) भव-परिवर्तन—कोई जीव प्रथम नरकमें दश हजार वर्षकी जघन्य-आयु पाकर जन्मा, आयु पूर्ण होनेपर मरा, पीछे ससार भ्रमण करते-करते फिर किसी कालमें उतनी ही आयुका धारक हुआ, इस प्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं, उतने वार दश-दश हजार वर्षकी आयुका ही धारक होकर, पीछे क्रमसे एक-एक समय अधिक, आयु धारण कर नरकायुका उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण काल पूर्ण करे । इसी प्रकार देवायुकी जघन्य-स्थिति दश हजार वर्षसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागर^२ तक तथा मनुष्यायु-तिर्यचायुकी जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्य पर्यन्त क्रमपूर्वक एक-एक समय बढ़ाता हुआ पूर्ण करे । क्रमरहित गिनती में नहीं । ऐसा करते हुए चारों आयुके पूर्ण करनेमें जितना काल लगे, वह सब एक भव-परिवर्तन काल जानो ।

(५) भाव परिवर्तन—योगस्थान, अनुभाग-अध्यवसाय स्थान,

१ प्रदेश आगे बढ़ानेका मतलब ऐसा नहीं है कि पहले प्रदेशोंको भी शामिल करके उतना बड़ा शरीर करे । किन्तु आगे एक-एक प्रदेश क्रमसे बढ़ाता जाय, पीछे के प्रदेश चाहे छूटते जाय ।

२ देवायु में ३१ सागरसे अधिक आयुका धारक नियमसे सम्यक्ती मोक्षमार्गी ही होता है अतएव उसे परिवर्तन नहीं करना पड़ता, इसीलिए यहा ३१ सागर कहा है ।

कषाय-अध्यवसाय स्थान, स्थिति-स्थान इन चारों का परिवर्तन क्रमपूर्वक पूर्ण होना, सो एक भाव परिवर्तन काल है अर्थात् किसी जीवके जिस समय जघन्य स्थिति स्थान, जघन्य कषाय-अध्यवसाय स्थान, जघन्य अनुभाग-अध्यवसाय स्थान और जघन्य ही योग स्थान हो, तब भाव परिवर्तन का आरम्भ जानो। वहाँ योगस्थान के तो एक-एक स्थान क्रम से पलट कर उत्कृष्ट पर्यन्त असख्यात स्थान पूर्ण हो और शेष तीनों ज्यों के त्यों जघन्य रूप ही रहे। इस प्रकार जब योगस्थान पूर्ण हो चुके, तब अनुभाग-अध्यवसायस्थान पलटकर दूसरा हो, शेष दो का जघन्य स्थान ही रहे। इस प्रकार योगस्थानोंकी पलटन पूर्वक असख्यात-लोक-प्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय स्थान क्रम से पलट-पलटकर पूर्ण हो चुकें, तब कषाय अध्यवसायका दूसरा स्थान हो। इस प्रकार योग स्थान, अध्यवसाय स्थान पूर्वक, कषाय अध्यवसाय स्थान क्रमसे पलटते हुए असख्यात लोकप्रमाण पूर्ण हो तब स्थिति स्थान जघन्यसे पलटकर दूसरा अर्थात् एक समय अधिक हो, इस प्रकार सब कर्मोंकी मूल उत्तर प्रकृतियों के स्थिति-स्थानों के इसी क्रमपूर्वक पलटनेमें जितना समय लगे, वह सब भाव-परिवर्तन काल जानो।

द्रव्य परिवर्तन काल अनन्त है, उससे अनन्तगुणा क्षेत्र परिवर्तनका, उससे अनन्तगुणा काल-परिवर्तनका, उससे अनन्तगुणा भव-परिवर्तनका और उससे अनन्तगुणा भाव-परिवर्तनका काल है। इन पाँचों परिवर्तनोंके कालका समूह एक परिवर्तन कहाता है। जीव मिथ्यात्ववश अनादिकालसे अपने शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार सुख-दुःख भोगता हुआ ऐसे अनन्त परिवर्तन कर चुका है इसलिए अब भव-भ्रमणके दुःखोंसे छूटनेका प्रयत्न करना अवश्य है।

४ एकत्व भावना

हे जीव-! तीनों लोकोंमें तू अकेला है, तेरा कोई भी साथी नहीं, अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल (सुख-दुःख) भोगता है। स्त्री-पुत्रादि कोई भी साथी नहीं होते। केवल आत्मीक गुण (रत्नत्रय) ही तेरे साथी, तेरे स्वभावरूप हैं। उन्हींके प्रभावसे तू मोक्ष-सुख पा सकता है, इसलिए उन्हींके बढ़ानेका यत्न कर।

२. अशरण भावना

हे जीव! इस ससारमे तेरा कोई भी सहाई नहीं है, तेरे ही किये हुए पुण्य-पापके अनुसार तुझे सुख-दुख प्राप्त होता है। देवी, देवता, माता-पिता, कुटुम्बी आदि कोई भी तेरी रक्षा करनेको, तेरे दुख मिटानेको, समर्थ नहीं है। सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति खर्चनेपर भी एक क्षणकी आयु नहीं बढ़ सकती, अतएव ससार की इसी प्रकार अशरण अवस्था जान तू अपनी सभाल शीघ्र कर।

३. संसार भावना

हे आत्मन्! यह जन्म-जरा-मरणरूप ससार अनादि-निधन, अनन्त दुःखोका सागर और कल्याणरहित, नित्य पच-परिवर्तन रूप है। चारो गति मरण, शोक, भय, तृष्णामय हैं। संसारमे एक आत्माके सिवाय सब परपदार्थ हैं, अतएव सबसे ममत्व छोड़कर निजमे ममत्व जोड़ना ही आत्महित है।

जन्म-मरण प्रारम्भ करके बार-बार पूर्ण करनेको परिभ्रमण, परिवर्तन या ससार कहते हैं, जो पांच भेद रूप है - द्रव्य, क्षेत्र काल, भव और भाव।

(१) द्रव्य परिवर्तन—इसका दूसरा नाम पुद्गलपरिवर्तन भी है। इसके दो भेद हैं - नोकर्म-परिवर्तन और कर्म-परिवर्तन।

नोकर्म-परिवर्तन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक तीन शरीर सम्बंधी छ पर्याप्ति होने के योग्य पुद्गल-वर्गणाओको नोकर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय जिन नोकर्मवर्गणाओको स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि करि तीव्र, मध्यम, मद भाव लिये हुए यथासभव ग्रहण किये। पञ्चात् समयोमे तिन वर्गणाओकी निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार अनतवार अगृहीत के समय-प्रवद्धोको ग्रहण कर-कर छोड़े, अनंतवार मिश्र को ग्रहण कर छोड़े तथा अनतवार गृहीत^१ वर्गणाओके समयप्रवद्ध

१ जो परमाणु पहिले कभी ग्रहण न किये हो प्रथम ही नये ग्रहण किये जाय सो अगृहीत, जो पहिले ग्रहण किये जाकर फिर ग्रहण किये जाय सो गृहीत, तथा कुछ नये कुछ पूर्व मे ग्रहण किये हुए मिलकर ग्रहण किये जाय सो मिश्र कहाते हैं। अनादिकाल से एक जीवने अनत-अनत पुद्गल, समय-समय ग्रहण किये, तो भी लोकमें बहुत से अगृहीत परमाणु अब भी मौजूद हैं। अथवा जब नया परिवर्तन शुरू होता है तब पूर्व-परिवर्तन मे ग्रहण किये हुए परमाणु भी अगृहीत कहलाने लगते हैं।

को भी ग्रहण कर-कर छोड़े। ऐसा करते हुए जिस समय, उन्ही प्रथम समयमें ग्रहणकी हुई नोकर्म वर्गणाओको गणनामे उतनी ही तथा वैसे ही स्पर्श, रस, गंध, वर्णादिको लिये हुए ग्रहण करे ऐसी क्रिया होने के समुदायरूप सम्पूर्ण कालको एक नोकर्म-परिवर्तन काल कहते हैं।

कर्मपरिवर्तन—ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रूप होने योग्य पुद्गल वर्गणाओको कर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय आठ प्रकार कर्मरूप होने योग्य कार्माण-वर्गणा ग्रहण की, समय अधिक आवलीमात्र आवाधा-काल व्यतीत होने पर उनकी निर्जरा होने लगती है। इसके अनंतर जैसा अनुक्रम नोकर्मपरिवर्तनमे कहा है, वैसे ही अगृहीत, मिश्र तथा गृहीतके समय प्रवद्धको अनत-अनत बार ग्रहण करि-करि छोड़े, इस प्रकार करते हुए वह जीव जिस समय प्रथम बार ग्रहणकी हुई कर्मवर्गणाओ को, उतने ही प्रमाण ग्रहणकरि कर्मत्वभावको प्राप्त करे, उस बीचके सम्पूर्ण काल को एक कर्मपरिवर्तन काल जानो।

(२) क्षेत्रपरिवर्तन—यह भी दो प्रकारका है। स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन।

स्वक्षेत्रपरिवर्तन—कोई जीव प्रथम समय जघन्य अवगाहनायुक्त सूक्ष्म-लब्धि-अपर्याप्त निगोदियाका शरीर धारण करे, पश्चात् उससे एक प्रदेश बढ़ती अवगाहनाको धरे। इस प्रकार क्रमसे एक-एक प्रदेश बढ़ाता हुआ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यंत शरीर धारण करे, बीच में जो क्रमरहित अवगाहनायुक्त शरीर धारण करे, सो गिनतीमें नहीं। ऐसा करते हुए जितना समय लगे, सो सब एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो।

परक्षेत्रपरिवर्तन—कोई सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया जीव जघन्य अवगाहनाके शरीरको धारणकर मेरुके नीचे, लोकके मध्यभागमे इस प्रकार जन्म ले कि उस जीवके मध्यके ८ प्रदेश, लोकके मध्यके आठ प्रदेशो पर आजाय^१। पश्चात् आयुपूर्ण होने पर मरकर ससार भ्रमण करता हुआ फिर किसी कालमे उतने ही प्रदेश प्रमाण अवगाहनाका शरीर धारण कर उसी क्षेत्रमे जन्म ले, इसी भाँति शरीरकी अवगाहनाके बराबर

१. सूक्ष्मलब्धपर्याप्त निगोदियाके शरीरकी अवगाहना असख्यातप्रदेश प्रमाण होती है इसलिए लोकके मध्यके ८ प्रदेशोको अपने आठ रुचिक (मध्य के) प्रदेशोसे दावता तथा और भी आसपासके क्षेत्रको रोकता है।

५ अन्यत्व भावना

हे आत्मन् ! तू इन कर्म-शरीरादि पुद्गलोसे पृथक् है, केवल भ्रम-बुद्धिसे इनको अपने मान रहा है। तू सर्वांग चेतन और ये शरीरादि जड़ हैं। फिर इनमे तथा घर, सम्पत्ति, परिवार मे एकता कैसी ? और इनका भरोसा कैसा ? व्यर्थ ही तू इनका भरोसा करता और इनके लिए पाप करके दुर्गति का पात्र बनता है।

६. अशुचि भावना

हे आत्मन् ! यह शरीर अशुचि माताके रज और पिताके वीर्यसे उत्पन्न हाड, मांस, मल, मूत्रका समूह है। इसमें रहते हुए तुझे क्या ग्लानि नहीं आती ? क्या तुझे चमड़ेसे लिपटा हुआ धिनावनी वस्तुओका समूह यह शरीर सुहावना लगता है ? जो तू इसे अपना रहा है। भला ! विचार तो सही, ससारमे जितनी अपवित्र वस्तुयें हैं वे सब एक शरीरके सम्बन्धसे ही अपवित्र हुई हैं। इतना होनेपर भी यह शरीर स्थिर नहीं है, अतएव ऐसे अपवित्र शरीर से ममत्व तजना और आत्माके पवित्र होनेका प्रयत्न करना ही श्रेष्ठ है।

७ आस्रव भावना

हे जीव ! मिथ्यात्व, अविरत, कषायके वशीभूत होकर मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति करनेसे पुद्गल-कर्मोंका आस्रव होकर आत्मा से बध होता है, जिससे आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंका घात होता है, अतएव आत्म-गुणोंकी रक्षाके लिए इन मोहादि भावोंका त्यागना योग्य है।

८. संवर भावना

हे आत्मन् ! मोहके मन्द पडने अथवा सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्यक्त्व, सयम तथा निष्कपाय भाव उत्पन्न होते और योगोंका निरोध होकर, नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है, अतएव आत्म हितके लिए जिस-तिस प्रकार इस संवर अवस्थाकी प्राप्ति करना अवश्य है।

९. निर्जरा भावना

हे आत्मन् ! शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार सुख-दुखकी सामग्रीके समागम होनेपर समताभाव धारण करनेसे सत्तास्थित कर्मोंका स्थिति अनुभाग घटता और बिना रस दिए ही (कर्मत्वशक्ति रहित होकर)

निर्जरा होती है। इस प्रकार सवरपूर्वक कर्मोंका एकदेश अभाव होना सो (अविपाक) निर्जरा और सर्वदेश कर्मोंका अभाव हो जाना सो मोक्ष है। अतएव मुक्तिप्राप्ति के लिये शुद्धोपयोगकी वृद्धि करना ही उचित है।

१० लोक भावना

हे आत्मन् ! यह अनादि, अनन्त, अकृत्रिम, षटद्रव्योसे भरा हुआ लोक १४ राजू ऊँचा, उत्तर-दक्षिण ७ राजू चौड़ा, पूर्व-पश्चिम नीचे ७ राजू, मध्यमे १ राजू, पाचवे स्वर्गके अन्तमें ५ राजू, और ऊपर लोकके अन्तमे १ राजू मोटा है। यह पुरुषाकार ३४३ घन राजू प्रमाण घनाकार है। अधोलोकमे ७ नरक पृथ्वी, मध्यलोकमे असंख्यात द्वीप-समुद्र, ऊर्ध्व-लोकमे १६ स्वर्ग, नव ग्रैवेयिक, नव अनुत्तर, पच-पंचोत्तर हैं, उनसे ऊपर अष्टमी प्राग्भार-पृथ्वी है, जिसमे अगूठीमे नगीने की नाई ४५ लाख योजन व्यासयुक्त सिद्धशिला जड़ी हुई है, सबसे ऊपर लोकके अन्तमे मुक्तजीवोका स्थान (सिद्धालय) है। जीव अनादिकालसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यकी प्राप्ति के बिना इस लोकमे सर्वत्र जन्म-मरण कर रहा है, अतएव संसार-भ्रमणसे वचने के लिए आत्मगुणों की एकताको प्राप्त करना ही परम कर्तव्य है।

११ बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन् ! इस संसार भ्रमणमे प्रथम तो नित्य निगोदसे निकलना ही महा कठिन है, फिर बे-इन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पचेन्द्रियका होना क्रमशः दुर्लभ है। सैनी पचेन्द्रिय, मनुष्यपना, उच्चकुल, नीरोगता, आयुकी पूर्णता पाना अति दुर्लभ है। तिसपर क्षयोपशमादि पचलब्धियोंको प्राप्त होकर सम्यक्त्व और चारित्र्य का उत्पन्न होना महा कठिन है। अब यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। अतएव ऐसे दुर्लभ-सयोग को पाकर अनन्तकाल-स्थायी स्वस्थान (मोक्ष) की प्राप्तिका यत्न करना योग्य है।

१२ धर्म भावना

हे आत्मन् ! धर्म आत्माका स्वभाव है, वह निश्चयनयसे यद्यपि अकथनीय है तथापि व्यवहारनयसे रत्नत्रय, दश लक्षण, जीवदया रूप है। इस निज स्वभाव रूप आत्मधर्मको प्राप्त करना ही जीवका परमहित है, इस निज-सम्पत्तिको पाकर ही यह जीव सच्चा सुखी हो सकता है अतएव इसको धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

ये द्वादश भावना वैराग्यका माता सवेग-निर्वेदकी उत्पादक हैं, इनके चितवन करनेसे ससार से विरक्तता होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप भावनाओं में गाढ़ रुचि उत्पन्न होती है अतएव समाधिमरण करनेवाला इन भावनाओं-आराधनाओं युक्त पंच-परमेष्ठीके गुणोंका तथा आत्मगुणोंका चितवन करे। निकटवर्ती साधर्मी भाइयोंको भी चाहिए कि समाधिमरण करने वालेका उत्साह हर समय बढ़ाते रहे, धर्मध्यानमें सावधान करते रहे। वैयावृत्य करते हुए सदुपदेश देवें और रत्नत्रयमें उपयोग स्थिर करावें।

अब समाधिमरण करनेवाला अन्त समयमें किस प्रकार आहारार्थ को घटावे तथा क्या चितवन करे वह लिखते हैं। प्रथम ही अन्नके बदले क्रम-क्रमसे दूध पीनेका अभ्यास डाले, पीछे छाछ और उसके बाद प्राशुक जल ही रखे, जब देखे कि आयु दो-चार प्रहर, या १ दिन की ही गेप रही जान पड़ती है, तब शक्ति-अनुसार चार प्रकार आहारका त्याग करे। योग्यता तथा आवश्यकतानुसार ओढ़ने-पहिरने मात्र अल्प वस्त्र परिग्रह रखे, यदि शक्ति और सब प्रकारकी योग्यता हो तो वस्त्रादिक सब परिग्रह त्याग, मुनिव्रत धार तृण के सस्तर पर पद्मासन या पर्यंकासनसे बैठ जाय, यदि बैठने की शक्ति न हो, तो लेट जाय और मन, वचन, कायको स्थिरकर धीरे-धीरे समाधिमरण में दृढ़ करनेवाले पाठ पढ़े, अथवा साधर्मीजनोंके बोले हुए पाठोंको रुचिपूर्वक सुने, जब बिल्कुल शक्ति घट जाय तो केवल णमोकार मंत्र ही जपे, पंचपरमेष्ठीका ध्यान मात्र करे, जब यह शक्ति भी न रहे, तब निकटवर्ती धर्मात्मा पुरुष धीरे-धीरे भीठे स्वरसे उसे सावधान करते हुए, केवल अर्हत्-सिद्ध या सिद्ध नाममात्र ही सुनावें। यह बात ध्यान में रहे कि समाधिमरण करनेवालेके पास कुटुम्बी या कोई दूसरे आदमी सासारिक वार्तालाप न करें, रोवें और गावे नहीं, कोलाहल न करे क्योंकि ऐसा होनेसे समाधिमरण करनेवालेका मन उद्वेग-रूप हो जाता है। अतएव हरएक सज्जनको यही उचित है कि उसके निकट संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त करनेवाली चर्चा-वार्ता करे, तथा आगे जो बड़े सुकुमाल आदि सत्पुरुषों ने भारी-भारी परीषद्-उपसर्ग सहकर समभावों पूर्वक समाधि-मरण साधा, उनकी कथा कहे, जिससे समाधिमरण करनेवालेके चित्तमें उत्साह और स्थिरता उत्पन्न हो। इस प्रकार समतासहित, ममतारहित शरीरका त्याग करना समाधिमरण कहाता है।

समाधिमरणके नीचे लिखे पांच अतीचार त्यागने योग्य हैं। क्योंकि इनके लगने से समाधिमरण दूषित हो जाता है—

(१) जीवित-आशंसा—ऐसी वाछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊँ और कुछ काल और भी जीऊँ तो अच्छा है।

(२) मरण-आशंसा—ऐसी वाछा करना कि दुःख बहुत हो रहा है, यदि शीघ्र मर जाऊँ तो अच्छा है।

(३) मित्रानुराग—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि की प्रीति का स्मरण तथा मिलने की इच्छा करना।

(४) सुखानुबन्ध—पूर्वकाल में भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना।

(५) निदान—परभवमे सासारिक विषयभोगों की प्राप्ति की वाछा करना।

जो अणुव्रती सत्पुरुष अतीचाररहित सन्यासमरण करते हैं, वे अपने किये हुए व्रत रूपी मन्दिर पर मानो कलश चढ़ाते हुए स्वर्गमें महर्द्धिक देव होते हैं। दोचार भव में ही सच्चे आत्मिक निराकुलित स्वरूपानन्द को प्राप्त होते हैं। क्योंकि समाधिमरण के भलेप्रकार साधनेसे अगले जन्म में वासना चली जाती है, जिससे वह जीव वहा विराग-रुचि होकर निर्ग्रन्थपना धारण का उत्साही होता और शीघ्रही मुनिव्रत धारणकर, शुद्धस्वरूप को साध, मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

अभिवंदन प्रकरण

(भद्रबाहु सहितानुसार)^१

अव्रती, व्रती, ब्रह्मचारी, उत्तम श्रावक तथा निर्ग्रन्थ गुरु आदि के, एक दूसरे से अभिवदन करने की पद्धति—

(१) गुरु मुनि के लिए श्रावक 'नमोस्तु' कहे।

(२) गुरु (मुनि) बदले में उत्तम त्रिवर्ण-श्रावकों को 'धर्मवृद्धि' साधारण (सामान्य) पुरुषोंको 'धर्मलाभ' और शूद्रोंको 'पाप क्षयतु' कहे।

(३) ब्रह्मचारीको श्रावक 'वन्दना' कहे।

(४) ब्रह्मचारी बदलेमें श्रावकोंको 'पुण्यवृद्धि' अथवा 'दर्शनविशुद्धि' कहे।

१ अन्य ग्रन्थों में यह विषय देखने में नहीं आया।

(५) श्रावक आर्यिका को 'वदामि' कहे^१ ।

(६) आर्यिका भी श्रावकको धर्मवृद्धि और सामान्य पुरुषोंको धर्म-लाभ कहे ।

(७) व्रती श्रावक अर्थात् सहधर्मी आपसमे 'इच्छाकार' करे तथा विरक्त उदासीन श्रावकसे भी 'इच्छाकार' करे ।

(८) शेष जैनी मात्र आपसमे जुहार (जूहार) या जयजिनेन्द्र करें।^२

(९) गृहस्थ अपने लौकिक व्यवहार में जेठो, बडो को नमस्कार करें।^३

(१०) इनके सिवाय और पुरुषोंके प्रति भी उनकी योग्यतानुसार यथायोग्य विनय करना चाहिये ।

(११) विद्या, तप और गुणों से श्रेष्ठ पुरुष, अवस्थामें कम होते हुए भी ज्येष्ठ (बडा) माना जाता है ।

(१२) सूत्रपाहुडमे दशवी-ग्यारहवी प्रतिमावाले उत्कृष्ट-श्रावकों को 'इच्छाकार' करना लिखा है, अर्थात् मैं आप सरीखे होनेकी इच्छा करता हूँ ।

(१३) ग्यारहवी प्रतिमावाले आपसेमे 'इच्छामि' -करे (सागारधर्मा मृत और धर्मसंग्रह श्रावकाधार) ।

यहा पर व्रती स्त्री-पुरुषोंको श्रावक और शेष सबको सामान्य गृहस्थ समझना चाहिये ।

सूतकप्रकरण

सूतकमे देव-गुरु शास्त्रका पूजन स्पर्शन, मन्दिर के वस्त्र-पात्रका स्पर्शन तथा पात्रदान वर्जित है । सूतक कालपूर्ण होने पर प्रथम दिवस पूजन-प्रक्षाल तथा पात्रदान करके पवित्र होवे । सूतकका विधान इस प्रकार है—

१. यह किसी ग्रन्थ मे नहीं मिला कि श्राविका, आर्यिका के प्रति क्या कहे, और आर्यिका बदले मे श्राविका से क्या कहे परन्तु बुद्धि मे आता है कि श्रावको की नाई श्राविका भी आर्यिका प्रति वदामि कहे और आर्यिका श्रावको की नाई श्राविका को धर्मवृद्धि कहे ।

२ जेठे-बडे अपनेसे छोटोको बदले मे क्या कहे ? ऐसा कहीं देखने मे नहीं आया, परन्तु बुद्धि मे आता है कि 'सुखी होओ' प्रादि आशीर्वादात्मक-वचन कहे ।

(१) वृद्धि अर्थात् जन्मका सूतक (सुआ) १० दिन का माना जाता है ।

(२) स्त्रीका गर्भ-जितने माहका पतन हो, उतने दिनका सूतक मानना चाहिये, यदि ३ माहसे कमका हो, तो तीन दिनका सूतक मानना चाहिये ।

(३) प्रसूता-स्त्रीको ४५ दिनका^१ सूतक होता है, इसके पश्चात् वह स्नान-दर्शन करके पवित्र होवे ।

(४) प्रसूतिस्थान का एक माहका सूतक अर्थात् अशुद्धता कही है ।

(५) रजस्वला (ऋतुवती) स्त्रीकी पाचवे दिन शुद्धता होती है ।

(६) व्यभिचारिणी स्त्री कभी भी शुद्ध नहीं होती, उसके सदा ही सूतक है ।

(७) मृत्युका सूतक १२ दिनका माना जाता है ।

(८) तीन पीढीतक १२ दिन, चौथी पीढीमे १० दिन, पाचवी पीढीमे ६ दिन, छठी पीढीमे ४ दिन, सातवी पीढीमे ३ दिन, आठवी पीढी मे १ दिन-रात, नववी पीढीमे दो प्रहर और दशवी पीढीमे स्नानमात्रसे शुद्धता कही है ।

(९) ८ वर्ष तकके बालककी मृत्युका ३ दिनका और तीन दिनके बालकका १ दिनका सूतक है ।

(१०) अपने कुलका कोई गृह-त्यागी अर्थात् दीक्षित हुआ हो उसका सन्यास मरण अथवा किसी कुटुम्बीका सग्राममे मरण हो जाय, तो एक दिनका सूतक होता है । यदि अपने कुलका देशान्तरमे मरण करे और १२ दिनपूरे होनेके पहिले मालूम हो, तो शेष दिनोंका सूतक मानना चाहिये । यदि दिन पूरे होगये हो, तो स्नानमात्र सूतक है ।

(११) घोड़ी, भैस, गौ आदि पशु तथा दासी अपने आंगन (गृह) मे जनें, तो १ दिन का सूतक होता है, यदि गृह बाहर जनें तो सूतक नहीं होता ।

(१२) दासी-दास तथा पुत्रीके प्रसूति हो या मरे तो ३ दिनका सूतक होता है । यदि गृह बाहर हो तो सूतक नहीं होता । यहा पर मृत्यु की मुख्यतासे ३ दिनका कहा है, प्रसूतिका १ ही दिन का है ।

१. कही कही चालीस दिन को भी माना जाता है ।

(१३) जने पीछे भैसका दूध १५ दिन तक, गायका १० दिन तक और वकरीका ८ दिन तक अशुद्ध है, पश्चात् खाने योग्य है ।

कही-कही देश भेदसे सूतक विधानमे भी भेद होता है, इसलिये देश-पद्धति तथा शास्त्रपद्धतिका मिलानकर पालन करना चाहिये ।

स्त्री चारित्र

१ सूत्रपाहुडमे कहा है कि स्त्री 'क्षुल्लिका' भी हो सकती है । यह भी कहा है कि उनकी योनिमे, स्तनकी वीटियोमे, नाभिमे तथा कांखोमे लब्धि-अपर्याप्तक मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं । ऐसी दशामे उनको महाव्रत की दीक्षा कैसे हो सकती है ? क्योंकि उनसे सर्वप्रकारकी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता । जो स्त्री सम्यक्त्वसे शुद्ध है वह मोक्षमार्ग सयुक्त कही है, परन्तु ऊँचा (अपनी शक्तिभर) चारित्र धारण करने पर भी उसके महाव्रतकी दीक्षा नहीं होती ।

२ दौलतक्रियाकोष के दानप्रकरणमे कहा है आर्थिका एक सफेद साड़ी, पीछी, कमडल, शास्त्र रखे, बैठकर कर-पात्र आहार करे, केश लौच करे ।

३ श्रीमूलाचारमे कहा है—आर्थिकाओके वृक्ष-मूलादि योग नहीं होता है अर्थात् वृक्षादि के कोटरमे एकान्त रहकर तप करने की आज्ञा नहीं है । आर्थिका परस्पर अनुकूल रहे, परस्पर मत्सर, ईर्ष्याभाव न रखे, आपसमे रक्षण, प्रतिपालनमे तत्पर रहे, क्रोध, वैर, कलह, कुटिलता रहित हो, न्यायमार्गमे प्रवर्तनेवाली, मर्यादावान, लोकापवादसे भयभीत, लज्जायुक्त तथा दोनो कुल (सासरा या पीहर) के योग्य जिनका आचरण हो अर्थात् मर्यादावान, लज्जावान और क्रियावान हो ।

पढे हुए शास्त्रोका पठन-स्वाध्याय-पाठ, शास्त्र-श्रवण, अपने जाने हुए शास्त्रोका व्याख्यान, श्रुतिका, चितवन, द्वादशानप्रेक्षा का चितवन, बारह प्रकार तप, इन्द्रियनिरोध, विनय इन शुभ क्रियाओमे आर्थिकाये सदा उद्यमी रहे । विकार-रहित वस्त्र (सफेद साड़ी) पहिरे (रंगीले और शौकीनी वस्त्र न पहरे), विकार तथा सस्कार रहित शरीर रहे तथा स्नानादि रहित हो^१

१ आर्थिका मासिक धर्मके समय तो श्राविकाओ द्वारा उचित स्नानादि शौच करे, इन दिनों मे उपवास या नीरस आहार करे, चौथे दिन प्रासुकजल से स्नान कर आहार करे ।

धर्मयुक्त, दीक्षायुक्त, शीलवान, विशुद्ध हों, संकलेश रहित हो ।

आर्यिका नगरके न अति निकट रहे, न अति दूर रहे । जहा असयमी तथा गृहस्थ न रहते हो, जहाँ पर दारालम्पट, चोर, ठग, दुष्ट-तिर्यचादि न रहते हो तथा मुनियोका संचार जहाँ न हो, जहाँ मलमूत्रादि उत्सर्ग करने का स्थान गुप्त हो, ऐसे स्थान मे रहे । दो आर्यिकाओ से कम न रहे, अर्थात् अकेली कभी न रहे, अधिक हो तो उत्तम है ।

आर्यिका विना प्रयोजन गृहस्थके घर न जावे, अथवा जहाँ मुनि बैठे हो, वहाँ न जाय । गृहस्थके घर (भिक्षा-काल मे अथवा आचार्यके निकट प्रतिक्रमण के समय) गणिनी (श्रेष्ठ आर्यिका) की आज्ञा लेकर अन्य आर्यिका अथवा गणिनी के साथ जाय ।

आर्यिकाको आश्रममे तथा पर घर जाकर इतने काम न करना चाहिए : रुदन अर्थात् दुःख से पीडित होकर आँसू काढना, स्नपन अर्थात् बालकादिको स्नान कराना, किसीके बालकादि को भोजन कराना, पानी पिलाना, रसोई करना, सूत काटना, सीना, कसीदा काढना आदि । असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकर्म, लेखकर्म, ये षट् कर्म जीवघातके कारण हैं, सो न करे । सयमियोके पगोका प्रक्षालन, रागभावपूर्वक गाना आदि और भी अपवादके कारण अयोग्य क्रिया न करे ।

आर्यिका आचार्यदिकी वदनाके लिए जाय, तो आचार्य को ५ हाथ दूरसे, उपाध्यायको ६ हाथ दूरसे और साधुको ७ हाथ दूरसे वदना करके उनके पिछाडी जाकर बैठे, अगाडी न बैठे । इसी प्रकार आलोचना, अध्ययन, स्तुति भी इतने ही दूरसे करे और जैसे गौ बैठती है उसी तरह गौआसनसे वदना करे ।

४ श्रीभगवतीआराधनासारमे कहा है कि “आर्यिका” समाधिमरणके अवसरमे अन्य आर्यिका या गणिनी की सहायता से अन्त समय नग्न-दिगम्बर मुद्रा भी धारण कर सकती है, जो पुरुषोके दृष्टिगोचर न हो ।

उपर्युक्त आगमवाक्योसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ भी पुरुषो समान सब प्रतिमाओकी धारक तथा आर्यिका हो सकती हैं । ऐलकवृत्ति तथा मुनिव्रत धारण करना इनके लिए अशक्य है । इनके उत्तम सहननके अभावसे शुद्धोपयोग रूप परिणाम, नग्न-दिगम्बर मुद्रा तथा प्रमत्तादि

ऊपरले गुणस्थान नहीं हो सकते । इनके वस्त्रत्याग अशक्यानुष्ठारूप होनेसे तत्सम्बन्धी निराकुलता एव चित्तकी दृढता नहीं हो सकती । ये हिंसादि सावद्ययोगका त्याग नव कोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनु-मोदनासे नहीं कर सकती, न इनके सामयिक चारित्रकी प्राप्ति हो सकती है, इसीसे आगममे इनके उपचारसे महाव्रत कहा है । यद्यपि ये अपने पुरुषार्थ की हृद् को पहुँच चुकी हैं तथापि भाव यथार्थमे पचम गुणस्थानरूप ही होते हैं ।

गृहस्थनी-श्राविका, ब्रह्मचारिणी, क्षुल्लिका तथा आर्यिका के वाह्या-भेष और व्रियाओमे इतना ही भेद जान पड़ता है कि श्राविकाके पति ससर्ग तथा परिग्रह-प्रमाण और भोगोपभोग प्रमाण व्रतके अनुसार वध्व वा परिग्रह रहता है और पहिनाव सामान्य गृहस्थो सरीखा होता है । ब्रह्मचारिणी के पति ससर्गका अभाव, वैराग्य-सूचक सादे-सफेद वस्त्रोका पहिनाव तथा अल्प परिग्रह रहता है । क्षुल्लिका एक सफेद धोती तथा एक सफेद दुपट्टा रखती और आरम्भ परिग्रह-रहित रहती तथा आर्यिका आरम्भ परिग्रह-रहित केवल एक सफेद साड़ी पहनती, पीछी, कमडल साथ रखती हैं ।

स्त्रियाँ भी तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रावकधर्मका (साधन जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है) ग्यारहवीं प्रतिमा (क्षुल्लिका) तक करती हुई आर्यिका तक हो सकती और अपनी शक्ति एव योग्यतानुसार धर्मसाधन करती हुई आत्मकल्याण कर सकती हैं । जिससे परम्परा से स्त्रीलिंग का अभाव करके पुरुष पर्याय, उत्तम सुख-समृद्धि पाकर, महाव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं । अतएव स्त्रियोको उचित है कि पढ़ें-लिखें, धर्म विद्याका अभ्यास करे, तत्त्वबोधको प्राप्त हो और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख योग्यतानुसार ब्रह्मचर्यादि प्रतिमा अथवा आर्यिकाके व्रत धारण करे ।



तृतीय भाग मुनि-धर्म^१

जब जीवके लोक-स्थित जीव-पुद्गलादि षट्द्रव्योके यथार्थ स्वरूप-पूर्वक शुद्ध आत्मद्रव्य की स्वाभाविक पर्यायोंके और पुन्दलजनित वैभाविक-पर्यायोंके जाननेसे मिथ्याबुद्धि दूर होकर सत्यश्रद्धान और सम्यग्यानकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह आत्मिक स्वभाव की प्राप्तिके लिए उसके साधक कारणों को मिलाता और बाधक कारणोंको दूर करता है, इसी क्रिया को सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

चारित्रकी आरम्भिक श्रेणीमें हिंसादि पच-पापोका स्थूलपने त्याग होता है जिसे श्रावकधर्म या अणुव्रत कहते हैं । जहाँ राज्य-दण्ड, पचदण्ड, लोकमें निन्दा हो, ऐसी हिंसा, भूठ, चोरी, अब्रह्म एव अतितृष्णाका त्याग होता है । इनके रक्षणार्थ तथा महाव्रतोकी आरम्भिक क्रियाओंके शिक्षणार्थ दिग्विरतादि सप्तशीलोका पालन किया जाता है । जिसका फल यह होता है कि अणुव्रत, महाव्रतोको स्पर्शने लगते हैं और इनका पालक पुरुष महाव्रत धारण करनेका अधिकारी हो जाता है ।

चारित्रकी उत्तरश्रेणीमें हिंसादि पच पापोका सम्पूर्णपने त्याग होता है, इसे मुनिधर्म या महाव्रत कहते हैं । इसके निर्वाहार्थ तथा रक्षणार्थ पच समिति, तीन गुप्ति (अष्ट प्रवचन-मात्रिका) भी पालन की जाती है । जिसका फल यह होता है कि महाव्रत यथाख्यात चरित्र को प्राप्त होते हैं ।

बाईस परीषहजय

असाता वेदनीय आदि कर्मजनित अनेक दुखों के कारण प्राप्त होने पर भी खिन्न न होना तथा उन्हें पूर्व संचित कर्मों का फल जान निर्जराके निमित्त समता (शान्ति) भाव पूर्वक सहना सो परीषहजय है । ये बाईस भेदरूप हैं ।—(१) क्षुधा परीषह—भूख की वेदना को शान्तिपूर्वक खेद-

१ यहाँ श्री मूलाचर, भगवती आराधनासार तथा विद्वज्जनबोधकके अनुसार दिग्दर्शन मात्र संक्षिप्तरूप से मुनिधर्मका वर्णन किया है । जो सज्जन विस्तार रूपसे जानना चाहें, वे इन ग्रंथोंका अवलोकन करें ।

रहित सहना । (२) तृषा परीषह—प्यास की वेदना को शान्तिपूर्वक खेद-रहित सहना । (३) शीत परीषह—शीत की वेदना को शान्तिपूर्वक खेद-रहित सहना । (४) उष्ण परीषह—गर्मी की बाधा को शान्तिपूर्वक खेद रहित सहना । (५) दंसमशक परीषह—डॉंस (दश) मच्छर (मशक) आदि अनेक जीव जन्तुओज्जित दुखों को शान्तिपूर्वक, खेद रहित सहना । (६) नग्न परीषह—उपस्थ (काम) इन्द्रिय को वश में करना और वस्त्र के सर्वथा त्याग करने से उत्पन्न हुई नग्नरूप लोक लाज को जीतना । (७) अरति परीषह—द्वेष के कारण आने पर खेद रहित शान्तचित्त रहना । (८) स्त्री परीषह—स्त्रियों में वा काम विकार में चित्त नहीं जाने देना । (९) चर्या परीषह—ईर्यापथ शोधते अर्थात् चार हाथप्रमाण भूमि को निर्जन्तु देखते हुए पैदल गमन करना और पैदल चलते खेद न मानना । (१०) निषद्या परीषह—उपसर्ग के कारण आने पर खेद न मानना तथा उपसर्ग के दूर न होने तक वहाँ से नहीं हटना, वही समयरूप स्थिर रहना । (११) शयन परीषह—रात्रि को कठोर, कंकरीली भूमि पर खेद न मानते हुए एक आसन से अल्प निद्रा लेना । (१२) आक्रोश परीषह—क्रोध के कारण आने पर या वचन सुनने पर क्षमा तथा शान्ति ग्रहण करना । (१३) बध-बन्धन परीषह—कोई आपको मारे अथवा बाँधे तो खेद न मानते हुए शान्तिपूर्वक सहन करना । (१४) याचना परीषह—श्रौषधि, भोजन, पान आदि किसीसे नहीं माँगना । (१५) अलाभ परीषह—भोजनादिकका अलाभ होते हुए उससे कर्म की निर्जरा होती जान शान्त भाव धारण करना, खेद न मानना । (१६) रोग परीषह—शरीर में किसी भी प्रकार का रोग आने पर कातर न होना, खेद न मानना, शान्त भाव पूर्वक सहना । (१७) तृण स्पर्श परीषह—पाँव में कठिन ककरो या नुकीले तृणों के चुभने पर भी उसकी वेदना को खेदरहित, शान्त भाव सहित सहना तथा पाँव में काँटा या शरीर के किसी अंग में फाँस आदि लग जाय तो अपने हाथ से न निकालना और तज्जन्त वेदना को शान्तभाव पूर्वक सहन करना । यदि कोई अपनी विना प्रेरणा के निकाल डाले तो हर्ष नहीं मानना । (१८) मल परीषह—शरीर पर धूल आदि लगने से उत्पन्न हुआ जो ग्लानि का कारण मल, पसेव आदि उसे दूर करने को स्नानादि सस्कार नहीं करना, धूल नहीं छुड़ाना, शरीर नहीं पोछना, न उसके कारण

चित्त मे खेदित होना (यहा पर मल त्याग सम्बन्धी अपवित्रता दूर करने का निषेध न जानना) । (१६) सत्कार पुरस्कार परीषह—आप आदर सत्कार के योग्य होते हुए भी कोई आदर सत्कार न करे तथा निन्दा करे तो मन मे खिन्न न होना । (२०) प्रज्ञा परीषह—विशेष ज्ञान होते हुए भी उसका अभिमान न करना । (२१) अज्ञान परीषह—बहुत तपश्चरणादि करते हुए भी आपको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तथा अन्य को थोड़े तपश्चरणादि से ज्ञान की प्राप्ति होती देख, खेद नहीं करना । (२२) अदर्शन परीषह—ऐसा सुना है तथा शास्त्रो में भी कहा हुआ है कि तप बल से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, मुझे दीर्घकाल कठिन कठिन तप करते हो गया परन्तु अभी तक कोई ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं हुईं सो यह उपर्युक्त वार्ता कदाचित् असत्य तो नहीं है ? ऐसा सशय न करना ।

मुनिधर्म धारने योग्य पुरुष

(१) मुनिधर्म धारण करने वाला पुरुष उत्तम देशका उपजा हो'
(२) उत्तम त्रिवर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो । (३) अगपूर्ण हो । (४) राजविरुद्ध न हो । (५) लोक विरुद्ध न हो । (६) जिसने कुटुम्बसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा माँग ली हो । यद्यपि आज्ञा माँगनेका राजमार्ग है तथापि कारण विशेष से यदि कुटुम्बी आज्ञा न दे, तो भी दीक्षा ले सकता है । परन्तु प्रेमभावपूर्वक सबसे क्षमाभाव होना उचित है । (७) मोह रहित हो । (८) कुण्ट, मृगी आदि बड़े रोगोसे रहित हो । (९) सधमे कुशलता और धर्मकी वृद्धिका कारण हो ।

यद्यपि सामान्य रीति से सर्व ही मुनि नग्न, दिगम्बर, अठ्ठाईस मूल गुणधारी, आभरण-स्नान-गन्ध-लेपनादि सस्कार रहित, शान्त मुद्रायुक्त होते हैं इसलिए अभेद है, तथापि किसी-फिसी विशेष गुणकी मुख्यता अपेक्षा इनके अनगार साधु, ऋषि, मुनि, यति आदि भेदरूप नाम भी कहे जाते हैं । सो ही श्री मूलाचार मे कहा है “ये ही महाव्रती गृहवास, स्त्री-पुत्रादि परिग्रह-तज निर्ग्रन्थ होनेकी अपेक्षा अनगार कहाते हैं । आत्मस्वरूप (समग्रदर्शन-ज्ञान-चारित्र्य) को एकीभावपूर्वक साधनेकी अपेक्षा साधु कहाते हैं । मौन

१ म्लेक्ष खड का उपजा पञ्चवती आदि के साथ आर्यखडमे आकर महाव्रत धारण कर सकता है (लब्धिसारजी) ।

धारण करने, मन-वचन-कायकी गुप्तियुक्त आत्मध्यान में तत्पर होनेकी अपेक्षा मुनि कहाते हैं। आत्मध्यानके वलसे अनेक प्रकार की मन. पर्यय, अक्षीण-महानस, चारण आदि ऋद्धिया प्राप्त होनेकी अपेक्षा ऋषि कहाते हैं। इसीप्रकार इन्द्रिय-कषायोको जीतनेकी अपेक्षा सयत और तेरह प्रकार चारित्र्य पालनेके लिए यत्न करनेकी अपेक्षा यति कहाते हैं। तथा चारित्र्यसारमें ऐसा कहा है कि “सामान्यपने निजगुणोंके साधक अनगार, उपसम-क्षपक श्रेणीमें आरूढ यति, अवधिज्ञानी मुनि और जो ऋद्धियुक्त होते हैं सो ऋषि कहाते हैं।”

मुनियों के भेद

मुनियोंके पदस्थ अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय साधु तीन भेद होते हैं। इन्हींसे सधका निर्वाह तथा उत्तरोत्तर ज्ञान-ध्यानकी वृद्धि होती है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आचार्य

जो स्वतः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, वीर्याचार, तपाचार इन पञ्चाचार रूप प्रवर्तते तथा सधके सब मुनि समूहको प्रवर्तित और दीक्षा प्रायश्चित्तादि देते हैं। जिस प्रकार राजा, प्रजाकी कुशलता की वृद्धि तथा रक्षा करता है उसी प्रकार ये अपने सध के आचार और रत्नत्रयादिकी रक्षा और वृद्धि करते हैं।

उपाध्याय

जिस प्रकार अध्यापक शिष्यों को पठन-पाठन द्वारा ज्ञानकी वृद्धि कराता और स्वयं ज्ञानकी वृद्धि के लिए पठन पाठन करता है उसी प्रकार उपाध्याय सर्वसधको अग्र पूर्वादि शास्त्रोंका ज्ञान कराते और स्वयं पठन-पाठन करते हैं।

साधु

जो आत्मस्वरूपको साधते और आचार्यकी आज्ञानुसार आचरण करते तथा उपाध्यायकी इच्छानुसार पढ़ते हैं। इस प्रकार पदस्थ अपेक्षा भेद होते हुए भी आत्म स्वरूप का साधन तीनों प्रकारके मुनियोंमें सामान्य-रीतिसे एक सा ही होता है, इसलिए सभी साधु हैं।

सामान्य रीतिसे यद्यपि सब ही साधु सम्यग्यदर्शन, सम्यग्यान एवं महाव्रतयुक्त, नग्नदिगम्बर (निर्ग्रन्थ) २८ मूलगुणोंके धारी होनेसे एक ही

प्रकारके होते हैं, तो भी चारित्र्य परिणामकी हानि वृद्धि अपेक्षा इनके पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक ये पाँच भेद हैं—

(१) पुलाक—जिनका मन उत्तरगुणोंकी भावना रहित हो, जो किसी क्षेत्र-कालके आश्रय व्रतोमे कदाचित् दोष होनेसे परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हुए अविशुद्ध (विना घोये हुए तदुलके समान) हो। जिनके परवश तथा वरजोरी से कोई मूलगुण सदोष हो। ये सामायिक, छेदोपस्थापना सयम के धारक और पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभलेश्या युक्त होते हैं। मरनेपर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(२) वकुश—जिनके महाव्रत अखण्डित होते हो। सराग सयमकी विषेशता-वश धर्मप्रभावनाके निमित्त जिनके शरीर तथा पीछी, कमडलादि उपकरणोंकी सुन्दरताकी इच्छारूप ऐसे भाव होते हो, कि हमारे सयमादिके सस्कारसे शरीर ऐसा सुन्दर हो, जिनके देखनेसे देवोंके सम्यक्त्व हो जाय, मनुष्योंके सयम हो जाय। इसी प्रकार ये वीतरागतासूचक धर्मोपकरण रखते और उन्हें इस प्रकार सुधारते-सम्हालते हैं, जिनके देखनेसे दूसरोंके वीतरागता प्रकट हो जाय। इनका चारित्र्य चित्रवर्ण कहा है क्योंकि वीतराग होते हुये, विविध विषयोंके ग्राहक शिष्य-समूहयुक्त होते हैं। शिष्य-शाखामे राग होता है। ये सामायिक-छेदोपस्थापना सयमके धारक होते हैं। छहो लेश्यायुक्त होते हैं, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(३) कुशील—इनके दो भेद हैं—(क) प्रतिसेवना कुशील—जिनके शिष्य-शाखादि अप्रगट हैं। यद्यपि मूलगुणों, उत्तरगुणोंमे परिपूर्णता है तथापि कोई कारण-विशेष वश उत्तरगुणोंकी विराधना होती है। सामायिक, छेदोपस्थापना सयमके धारक होते हैं, छहो लेश्यायुक्त होते, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं। (ख) कषायकुशील—जो सज्ज्वलन कषाय युक्त होते, शेष कषायोंको जिनने वश किया है, प्रमाद-रहित होते हैं, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय सयमके धारक होते हैं, सामायिक छेदोपस्थापना सयम भी होता है। परिहार विशुद्धिवालेके कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल चार लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसांपराय सयमके एक शुक्ल लेश्या होती है। मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ—जिनके जलमे लहर अथवा दडकी लीकके समान कर्मका उदय प्रगट नहीं है। मोहनीय कर्मका अभाव हुआ है। ज्ञानावरण, दर्शना-

वरण और अन्तराय कर्मका उदव है। जिनके उपयोगकी गति मन्द हो गई है, व्यक्त (अनुभवगोचर) नहीं है। जिनके अन्तर्मुहूर्त पीछे केवलज्ञान उपजनेवाला है। ये यथाख्यात-सयमके धारक होते, शुक्ललेश्या युक्त होते, मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं।

(५) स्नातक—चारो घातिया कर्मोंके सर्वथा अभाव युक्त केवली सयोगी-अयोगी दो भेदरूप होते हैं। ये यथाख्यातसंयमके धारक होते, शुक्ल लेश्या युक्त होते, मोक्षके पात्र होते हैं।

मुनियोंके उत्सर्ग-अपवाद दो मार्ग कहे गये हैं—(१) उत्सर्गमार्ग—जहाँ शुद्धोपयोग परम वीतराग सयम होता है। (२) अपवादमार्ग—जहाँ शुद्धोपयोगसे बाह्य-साधन आहार-विहार-निहार, कमडल-पीछी, शिष्य-शाखादि के ग्रहणत्याग युक्त शुभोपयोगरूप सरागसयम होता है। इनमें अपवादमार्ग उत्सर्गमार्ग का साधक होता है।

साधुके २८ मूलगुण

आगममे साधु (मुनि) का लक्षण इस प्रकार कहा है “जो पचेन्द्रियोंके विषयोसे विरक्त, आरभ-परिग्रह रहित और ज्ञान-ध्यान-तपमे लवलीन हो, सो ही साधु है।” आत्मस्वरूपमे लवलीन होनेके बाधक कारण आरभ-परिग्रह और इन्द्रिय-विषयोकी लोलुपता है, इन्हीके निमित्तसे जीवके कषायोंकी उत्पत्ति होती है और आत्मध्यानमे चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रह सकती। अतएव इनको त्याग आत्म-ज्ञानपूर्वक ध्यान मे लवलीन रहना ही साधुका कर्तव्य है। इस इष्टसिद्धिके लिए साधुको नीचे लिखे शास्त्रोक्त २८ मूलगुण धारण करना चाहिए। पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियो का दमन, सामा-यिकादि पट्कर्म, केशलौच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन और एकभुक्ति। इन मूलगुणोंके भलीभाँति पालनेसे आत्मा के ८४ लाख उत्तरगुणोंकी उत्पत्ति होती है, जिनका वर्णन आगे किया गया है। जिस प्रकार मूल विना वृक्ष नहीं ठहर सकता और न विस्तृत व हरा-भरा हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंके समुचित पालन किए बिना न तो मुनिधर्मका ही साधन हो सकता और न उत्तर गुणोंकी उत्पत्ति ही हो सकती है। अतएव मुनिधर्म धारणकर आत्मस्वरूप साध, परमात्मा होनेके इच्छुक भाग्यवानोंको ये २८ मूलगुण यथार्थरीतिसे पालन करना अत्यावश्यक है।

पंच महाव्रत—जिनका आचरण पूर्णरूपेण सावद्यकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्ति के लिए किया जाय, सो महाव्रत हैं। अथवा जिनका आचरण महा-शक्तिवान्, पुण्यवान् पुरुष ही कर सके सो महाव्रत है। अथवा जो इन महाव्रतों को धारण करे सो महान हो जाता है ऐसे ये स्वयं ही महान् हैं, इसलिए महाव्रत हैं। इस प्रकार हिंसादि पंच पापोंके सर्वथा त्यागरूप सकल समय (चारित्र्य) के साधक महाव्रत पाँच प्रकार हैं—

(१) **अहिंसामहाव्रत** पट्काय के जीवोंकी हिंसा नहीं करना अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति कायिक (स्थावर) जीव तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, पंच-इन्द्रिय (त्रस जीव) इन सबको जीवत्वकी अपेक्षा समान जान, इनकी हिंसा न करनी, रक्षा करना-दयाभाव रखना सो द्रव्य हिंसा-विरति और राग-द्वेषका त्याग सो भावहिंसाविरति है। प्रमत्तयोगपूर्वक द्रव्य और भाव प्राणोंके घातका सर्वथा त्याग सो अहिंसा महाव्रत है।

(२) **सत्यमहाव्रत**—प्रमत्तयोगपूर्वक असत्यवचनका सर्वथा त्याग सो सत्य महाव्रत है।

(३) **अचौर्यमहाव्रत**—प्रमत्तयोगपूर्वक विना दी हुई वस्तु के ग्रहण करनेका सर्वथा त्याग सो अचौर्य महाव्रत है। यद्यपि अचौर्यका अभिप्राय अदत्तग्रहणका त्याग मात्र है अर्थात् किसीका पडा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ, विना दिया हुआ पदार्थ न लेवे। तथापि मुनि, धर्मोपकरण तथा भोजनके सिवाय, अन्य कोई वस्तु दी हुई भी न लेवे। यदि लेवे तो अचौर्य महाव्रत नष्ट हो जाता है, क्योंकि साधु सर्वथा सर्वप्रकार परिग्रहके त्यागी हैं।

(४) **ब्रह्मचर्यमहाव्रत**—वेदके उदय-जनति मैथुन सम्बन्धी सम्पूर्ण त्रियाश्रोंका सर्वथा त्याग सो ब्रह्मचर्यमहाव्रत है। वहाँ सर्वप्रकारकी स्त्रियों मे विकारभावका अभाव सो द्रव्य-ब्रह्मचर्य और स्वात्मरूपमे स्थिति सो निश्चय ब्रह्मचर्य है।

(५) **परिग्रहत्यागमहाव्रत**—परद्रव्य एव तत्सम्बन्धी मूर्च्छाका अभाव सो परिग्रहत्यागमहाव्रत है वहाँ चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह का अथवा १ खेत (जमीन) २ वास्तु (मकानात) ३ चाँदी ४ सोना ५ पशु ६ अनाज ७ नौकर ८ नौकरानी ९ वस्त्र १० वर्तन इन दश प्रकार वाह्य-परिग्रहों का तथा १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य

६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा (घृणा) ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ नपुसकवेद १४ मिथ्यात्व इन चौदह प्रकार अतरग-परिग्रहोका त्याग सो परिग्रहविरति है। यद्यपि यहाँ सज्ज्वलन कपायका सर्वथा अभाव नहीं हुआ तथापि अभाव करनेके सन्मुख है।

इन व्रतो की पाँच-पाँच भावनायें हैं जिनका विवरण पचाणुव्रत में किया गया है।

पाँच समिति—सम् अर्थात् भले प्रकार, शास्त्रोक्त, इति कहिये गमनादिमें प्रवृत्ति सो समिति है। इसमें समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है इस लिये ये व्रतोकी रक्षक और पोषक है। ये पाँच हैं—

(१) ईर्यासमिति—जो मार्ग मनुष्य-पशु आदिके गमनागमनसे खुंद गया हो, सूर्यके आतापसे तप्त हो गया हो, हल-बखर आदिसे जोता गया तथा मसानभूमि हो, ऐसे प्रासुकमार्गसे, प्रमाद रहित-होकर, दिनके प्रकाशमें चार हाथ प्रमाण भलीभाति निरखते हुए प्राणियोंको न विराधते हुए, शास्त्र-श्रवण, तीर्थ-यात्रा, गुरु-दर्शन आदि धर्म-कार्यों तथा आहार-विहार-निहारादि आवश्यक कार्योंके निमित्त गमन करना सो ईर्यासमिति कहाती है।

इसके अतीचार^१—गमन करते समय भूमिका भलीभाति अवलोकन नहीं करना। पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, बाजार, तिर्यंच मनुष्यादिको अवलोकन करते हुए चलना।

(२) भाषासमिति—सर्व प्राणियोंके हितकारी, सुख उपजानेवाले, प्रामाणिक, शास्त्रोक्त, विकथा-वर्जित वचन बोलना। लौकिक, कर्कश, हास्यरूप, परनिन्दक, स्वात्मप्रशंसक, प्राणियोंको सक्लेश, दुःख, हानि उपजाने वाले वचन न बोलना, सो भाषासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—देश-कालके योग्यायोग्य विचार किये बिना बोलना, बिना पूछे बोलना, पूरा सुने-जाने बिना बोलना।

(३) एषणा समिति—आहार ग्रहणकी प्रवृत्तिको एषणा कहते हैं। सो ४६ दोष, ३२ अतराय, १४ मल दोष टाल कर उत्तम त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घर, तपचारित्र बढ़ानेके लिये, शीत-उष्ण, खट्टे-

मीठेमे समभावसहित, शरीरपुष्टि और सुन्दरताके प्रयोजनरहित, मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना नव कोटिसे शुद्ध, अपने निमित्त न किया हुआ ऐसा अनुद्दिष्ट आहार लेना, सो एषणा समिति कहाती है।

इसके अतीचार — उद्गमादि दोषोमेसे कोई दोष लगा कर भोजन करना। अतिरसकी लम्पटतासे प्रमाणाधिक भोजन करना।

(४) आदान-निक्षेपण समिति — रखी हुई वस्तु उठाने को आदान और ग्रहणकी हुई वस्तु रखनेको निक्षेपण कहते हैं। जिससे किसी जीवको वाधा न पहुँचे, उस प्रकार ज्ञानके उपकरण शास्त्र, समयके उपकरण पीछी, शौचके उपकरण कमडल तथा सस्तरादिको यत्नपूर्वक उठाना, रखना सो आदाननिक्षेपणसमिति कहाती है।

इसके अतीचार—भूमि पर शरीर तथा उपकरणोको शीघ्रतासे उठाना-धरना, अच्छी तरह नेत्रोसे नही देखना वा मयूर-पिक्छिकासे अच्छी तरह प्रतिलेखन नही करना, उतावलीसे प्रतिलेखन करना।

(५) प्रतिष्ठापनासमिति — जीव-जन्तु रहित तथा एकात (जहा असयमी पुरुषोका प्रचार न हो) अचित्त (हरितकायादि रहित) दूर, छिपे हुए (गुप्त), विशाल (विल, छिद्र रहित) अविरोध (जहा रोक-टोक न हो) ऐसे मलमूत्ररहित निर्दोषस्थानमे मल-मूत्र-कफादि क्षेपण करना, सो प्रतिष्ठापनासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—अशुद्ध, बिनाशोधी भूमिमे मल-मूत्र कफादि क्षेपना।

पचेन्द्रिय-निरोध—स्पर्शनादि पचेन्द्रियोके विषयोमे लोलुपता होने से असयम तथा कपायोकी वृद्धि होकर चित्तमे मलिनता तथा चंचलता होती है, इसलिये जिनको चित्त निर्मल तथा आत्मस्वरूपमे स्थिर करना है, आत्मस्वरूपको साधना है, ऐसे-साधु-मुनियो को कषायोके उत्पन्न न होने देनेके लिये पचेन्द्रियोके विषयो से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसी प्रकार इन पचेन्द्रियोको कुमार्गमे गमन करानेवाले चंचल मनको भी वश करना अत्यावश्यक है। यद्यपि मन किसी रसादि विषयको ग्रहण नही करता, तथापि इन्द्रियोको विषयोकी तरफ झुकाता है। इस तरह इन्द्रियो तथा मनके विषयोमे रागद्वेषरहित होना इन्द्रियनिरोध कहाता है।

षट् आवश्यक—अवश्य करने योग्य को आवश्यक कहते हैं। मुनियोंके ये षट् आवश्यक समस्त कर्मोंके नाश करनेको समर्थ हैं। यद्यपि मुनिराज नित्य ही ये षट्कर्म करते हैं, तथापि ध्यान-स्वाध्याय की इनके मुख्यता है। ये षट्कर्म इस प्रकार हैं—

१ समता अर्थात् सामायिक—भेदज्ञानपूर्वक समस्त सासारिक पदार्थोंको अपने आत्मा से पृथक् जान तथा आत्म-स्वभावको राग-द्वेष-रहित जान जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख मे समान भाव रखना तथा कर्मोंके शुभाशुभ उदयमे रागद्वेष न करना।

मुनि इस प्रकार समतारूप सामायिक चारित्रिके धारक होते हुए भी नित्य त्रिकाल—सामायिक करते हैं इसलिये यहाँ प्रकरणवश इनके सामायिक सम्बन्धी ३२ दोष कहे जाते हैं।

सामायिकके ३२ दोष—(१) अनादर दोष—सामायिकका क्रिया-कर्म निरादर-पूर्वक वा अल्पभावसे करना (२) तप्तदोष - विद्या आदि गर्वसयुक्त उद्धततापूर्वक सामायिक करना (३) प्रविष्टदोष—अति असतुष्टतापूर्वक पचपरमेष्ठी का ध्यान करना (४) परि-पीडित दोष—दोनों गोडोंके प्रदेशोंको स्पर्शना-पीडना (मसकना) (५) दोलायतदोष—आपको चंचल करके संशयसहित सामायिक करना (६) अकुशदोष—हाथकी अंगुलियोंको अकुशके सदृश ललाटेसे लगाकर वन्दना करना (७) कच्छपदोष—कटिभागको कछुएकी तरह ऊँचा करके सामायिक करना (८) मत्स्यदोष—मछलीकी तरह कमरको नीची-ऊँची, अगल-वगलको पलटना (९) मनोदुष्टदोष—हृदयको दुष्टरूप, क्लेश-रूप करके सामायिक करना (१०) वेदिकावद्ध दोष—अपने हाथोंसे अपने दोनों घुटनोंको बाधकर मसकना (११) भयदोष—मरणादिकके भयसहित सामायिक करना (१२) विभीतदोष—परमार्थको जाने बिना गुरुके भयसे सामायिक करना (१३) ऋद्धिगौरवदोष—अपने सघके गौरवकी इच्छा कर सामायिक करना (१४) गौरवदोष—सुखके निमित्त आसन आदि कर अपना गौरव प्रगट करना (१५) स्तेनितदोष—गुरुसे तथा अन्यसे छिपकर सामायिक करना (१६) प्रत्यनीकदोष—देवगुरुसे प्रतिकूल होकर सामायिक करना। (१७) प्रदुष्टदोष—अन्य सामायिक करे उससे द्वेष, वैर, कलह करके सामायिक करना (१८) वर्जितदोष—अन्यको भय उपजाकर सामायिक करना (१९) शब्ददोष—मौनको छोड़ बातें करते हुए सामायिक करना

हीलितदोष आचार्य तथा अन्य साधुओंका अपमान करते हुए सामायिक करना (२१) त्रिवलितदोष—ललाटकी तीन रेखा चढ़ाकर सामायिक करना (२२) सकुचित दोष—दोनों हाथोंसे माथा पकड़कर सकोचरूप होना (२३) दृष्टिदोष—अपनी इच्छापूर्वक दशो दिशाओंमें अवलोकन करना (२४) अदृष्टदोष आचार्यादिकसे छिपकर और अनेक जनोके सन्मुख प्रतिलेखन करना (२५) करमोचनदोष—संघ के रजन निमित्त तिनकी भक्ति-की वाछारहित सामायिक करना (२६) आलब्धदोष—जो उपकरण मिल जाय तो सामायिक करना (२७) अनालब्धदोष—उपकरणादिकी वाछायुक्त सामायिक करना (२८) चदनचूलिकादोष—थोड़े ही कालमें जल्दीसे सामायिक कर लेना (२९) उत्तरचूलिकादोष—आलोचनामें अधिक काल लगाकर सामायिकको थोड़े ही कालमें पूर्ण करना (३०) मूकदोष—मूकके समान मुख मटकाके, हुंकार आदि करके अगुली आदि की समस्या बताना (३१) दूर्ध्व दोष—अपने शब्द, परके शब्द विषे मिलाते, रोकते, बड़े गले करके सामायिक करना (३२) चुचूलितदोष—एक ही जगह बैठकर सबकी वंदना पंचम स्वर (अतिउच्चस्वर) से करना ।

२ वंदना—चौबीस तीर्थंकरोंमें से एक तीर्थंकरकी वा पंचपरमेष्ठीमें एककी मुख्यता करके स्तुति करना तथा अर्हत् प्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, दीक्षागुरु, दीक्षाधिकगुरुको प्रणाम तथा उनकी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक स्तुति करना ।

३ स्तुति या स्तवन—चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करना ।

४ प्रतिक्रमण—आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्तके व्यापारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रय अतीतकालमें लगे हुए व्रत-सम्बन्धी अपराधोंका शोधना, निन्दा-गर्हायुक्त अपने अशुभ योगोंसे निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये हुए दोषोंका परित्याग करना सो प्रतिक्रमण है । वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक ईर्यापथिक, उत्तमार्थ भेदसे सात प्रकारका होता है । इसी भाँति वर्तमानमें लगे हुए दोषोंका निराकरण सो प्रायश्चित्त तथा भविष्यमें ऐसे अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा सो प्रत्याख्यान कहाता है ।

५ कायोत्सर्ग—शरीरसे ममत्व छोड़ खड़े होकर या बैठकर शुद्धात्मचित्तन करना, सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुणोंकी भावना सहित होकर शरीरसे निर्ममत्व होना ।

६ स्वाध्याय—वांचना, पृच्छनादि पंच प्रकारसे शास्त्रो का अध्ययन अथवा आत्मचितन करना ।

केसलौंच^१ अपने हाथसे शिर, डाढ़ी, मूँछोके केंगोका उखाड़ डालना, सो केशलौंच कहाता है ।

यह क्रिया उत्कृष्ट दो माहमे, मध्यम तीन माहमे, जघन्य चार माहमे की जाती है । लौंचके दिन प्रतिव्रमणसहित उपवास करना चाहिये ।

लौंच से लाभ — सम्मूर्च्छन जीवोकी हिंसाका परिहार, शरीरसे निर्ममत्व, वैराग्य, वीर्यशक्ति तथा मुनिर्लिंगके गुण निर्ग्रन्थपनेकी प्रगटताके लिये केशलौंच किया जाता है । इससे आत्मा वशीभूत होता, शरीरसम्बन्धी सुखमे आसक्तता नहीं होती, स्वाधीनता नष्ट नहीं होती, समय नहीं विगडता, धर्म मे श्रद्धा, प्रतीति होती तथा कायक्लेश तप होता है ।

आचेलक्य—चेल वस्त्रको कहते हैं । निरवद्य मुनिधर्मके विराधक—कपास, रेशम, सन, टाट आदि वनस्पतिके वस्त्रो तथा मृग, व्याघ्र आदिसे उत्पन्न मृगछालादि चर्म व वृक्षोके पत्र-छाल आदि द्वारा शरीरको आच्छादित नहीं करना और उन्हे मन-वचन-कायसे त्यागना सो आचेलक्य गुण है ।

यद्यपि परिग्रह त्यागमें ही यह आचेलक्य गुण गर्भित होता है तथापि अन्यमतोमे वस्त्रको परिग्रह नहीं गिना, इसलिये अथवा आयिकाको वस्त्र धारण करनेके कारण उपचारसे महाव्रती ग्रन्थोमे कहा है इसलिये, यथार्थ महाव्रतीके लिये परिग्रह त्यागसे पृथक् ही वस्त्रत्याग मूलगुण कहा है ।

निर्ग्रन्थ लिंगसे कामविकारका अभाव होता, शरीरमे निर्ममता होती, समयके विनाशका अभाव होता, हिंसादि पापोत्पत्तिका अभाव होता, ध्यानमे विघ्नका अभाव होता, जगतमे प्रतीति होती, अपनी आत्मामे स्थिति होती, गृहस्थपनेसे पृथक्ता प्रगट होती, परिग्रहमे मूर्च्छा नहीं होती, बहुत शोधना नहीं पडता, भय नहीं होता, जीवोकी उत्पत्ति वा हिंसा नहीं होती । याचना, सीना, प्रक्षालना, सुखाना आदि ध्यान—स्वाध्यायमे

१ शास्त्रोमे “पंचमुष्टी लोच कीनो” ऐसा कहा है उसका भाव बृद्धविद्वानो द्वारा ऐसा मुत्ता गया है कि दीक्षा समय, शरीरसे निर्ममता प्रगट करनेको पहिले नेगमात्र दो मुठी मूँछोकी, दो डाढ़ीकी और एक सिर की लोच करते, पीछे शेष सबका लौंच कर डालते हैं ।

विघ्नके कारण उत्पन्न नहीं होते। शीत-उष्णादि परीषहोंका जय, उपस्थ-इन्द्रीका वशीकरण होता है। यह मुद्रा जिनेन्द्रमुद्राका प्रतिबिम्ब है।

अस्नान—जल (सर्व अंग पर जो मल हो, जैसे धूल-पसेव आदि) तथा मल (जो एक ही अंगमे लगा हो, जैसे पावमे कीचड़ लगजाना आदि) युक्त शरीर होने पर भी स्नान, विलेपन, जलसिंचन आदि शरीर-सस्कार न करनेको अस्नानगुण कहते हैं। परन्तु साधुको मलमूत्रादि सम्बन्धी शुद्धता, पट् आवश्यक आदिके निमित्त करना आवश्यक है।

कषायनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह तथा इन्द्रियसयमके निमित्त अस्नान मूलगुण है। इससे मल-परीषह का जीतना भी होता है।

क्षितिशयन—जीवादि-रहित प्रासुकभूमिमे सस्तर-रहित अथवा जिससे सयमका घात न हो, ऐसे अल्पमात्र तृण-काष्ठके पट्टिये (फलक) पर या शिलामय सस्तर पर (जो आपके द्वारा या अन्य महाव्रतीके द्वारा किया गया हो, हिलता न हो, कोमल तथा सुन्दर न हो) एकान्तस्थानमें प्रच्छन्न औंधे अथवा सीधे रहित एक पसवाड़ेसे दंड अथवा धनुषके समान शयन करना, सो क्षितिशयन गुण कहलाता है।

क्षितिशयनसे शरीरसे निर्ममत्व, तपकी भावना सयमकी दृढता, निषद्या-जैय्या-तृणस्पर्श आदि परीषहोका जीतना, शरीरके सुखियापने तथा प्रमादका अभाव होता है।

अदन्तधावन—हाथकी अगुली, नख, दन्तौन, तीक्ष्ण ककर, वृक्षकी छाल आदि द्वारा दांतोका शोधन न करना, सो अदन्तधावन कहाता है।

अदन्तधावनसे इन्द्रियसयमकी रक्षा होती, वीतरोगता प्रकट होती और सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है।

स्थितभोजन—भीत आदिके आश्रय विना, दोनो पावोमे चार अंगुलका अन्तर रखकर, समपाद खड़े होकर, ४६ दोष, ३२ अतराय, १४ मलदोष टालकर, प्राणिपात्र आहार लेने को स्थित-भोजन गुण कहते हैं। खड़े भोजन लेनेका प्रयोजन यह है कि जवतक हाथ-पाव चले और धर्मध्यान सधे, तब तक शरीरको आहार देना। बैठकर, दूसरेके हाथसे या बर्तनद्वारा आहार नहीं करना, पाणिपात्रसे ही करना, जिससे अतराय होनेपर हाथका आसमात्र भोजन छोड़ना पड़े, अधिक नहीं।

स्थितभोजनसे हिंसादि दोषोकी निवृत्ति होती, इन्द्रियसयम तथा प्राणिसयमका प्रतिपालन होता है।

एक भुक्ति—तीन घड़ी दिन चढ़े पीछे, तीन घड़ी दिन रहे पहिले, मध्य मे १, २, ३, मुहूर्त कालके भीतर-भीतर दिवसमे केवल एक वार ही अल्प आहार लेनेको एकभुक्ति गुण कहते हैं।

इन्द्रियोके जीतने तथा आकांक्षाकी निवृत्तिके लिए एकभुक्ति व्रत है।

इन उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणोंके विधिपूर्वक पालन करनेसे इन्द्रियसयम^१ और प्राणिसयम^२ दोनोंकी भलीभाति सिद्धि होती है, स्वाधीनता, निराकुलता बढ़ती, धर्ममे प्रवृत्ति भलीभाति होती, उपयोग स्थिर और निर्मल होता है। यही योग्यता मोक्ष प्राप्तिके लिए मूलकारण और मोक्षका स्वरूप है।

मुनिके आहार-विहारका विशेष—भोजन करनेके कारण—(१) क्षुधा वेदनाके उपगमनार्थ (२) षट् आवश्यकोंके पालननिमित्त (३) चारित्र-पालनार्थ (४) इन्द्रियसयमनिमित्त (५) प्राण रक्षणार्थ (६) उत्तमक्षमादि धर्मपालननिमित्त—इन छ कारणोंसे साधु आहार लेते हैं।

भोजन न करनेके कारण—(१) युद्धादिककी शक्ति उत्पन्न होने को (२) आयुकी वृद्धि होनेको (३) स्वादके लिए (४) गरीर पुष्ट होनेको (५) मोटे (मस्त) होनेको (६) दीप्तिवान होने को—इन छ प्रयोजनोंसे साधु आहार नहीं लेते हैं।

आहार त्याग करनेके कारण—(१) अकस्मात् मरणान्त समय एकसी वेदना उपजनेपर आहार त्यागे (२) दीक्षाके विनाशके कारण उपसर्ग होनेसे आहार त्यागे (३) ब्रह्मचर्यकी रक्षामे बाधा होती देखे तो आहार त्यागे (४) प्राणियोंकी दया निमित्त आहार त्यागे (५) अनशन तप पालने के निमित्त आहार त्यागे (६) गरीर-परिहार अर्थात् सन्यास-मरणके निमित्त आहार त्यागे।

भिक्षाको जानेकी पद्धति—साधु योग्यकालमे भिक्षाके लिए वनसे नगरमे जावे। उससे यह बात जानना जरूरी है कि इस देशमे भोजनका काल कौनसा है? नगर-ग्रामादिको अग्नि, स्वचक्र, परचक्रके उपद्रव, राजादि महत् पुरुषोंके मरण, धर्ममे उपद्रव आदि युक्त जाने या महान्

१. पाचो इन्द्रियो और छठे मनके विषयोसे राग घट जाना या तत्सम्बन्धी रागका विलकुल अभाव हो जाना सोइ इन्द्रियसयम और छहकायके जीवोंकी विराधनाका अभाव अर्थात् योगोंकी यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति अथवा सवर हो जाना सो प्राणिसयम है।

हिंसा होती हो तो भोजनको न जाये। जिस काल चक्की, मूसलादिका शब्द मंद पड़ जाय, उस समय मल-मूत्र आदिकी वाधा मेट, पीछी, कम-डल ग्रहण कर गमन करे। मार्गमें किसीसे वार्तालाप न करे, यदि आवश्यकता ही हो, तो खड़े होकर योग्य और थोड़े शब्दोंमें उत्तर दे। दुष्ट मनुष्य-तिर्यच, पत्र, फल, पुष्प, वीज, जल, कीच जिस भूमिमें हो, वहां गमन न करे। दातार तथा भोजनका चिंतन न करे। अन्तराय कर्मके क्षयो-पशमके आधीन लाभालाभको विचार धर्म-ध्यान सहित चार आराधनाको आराधता भिक्षाके निमित्त गमन करे। जाते समय योग्यतानुसार व्रत-परिसंख्यान प्रतिज्ञा अंगीकार करे। भिक्षाके निमित्त लोकनिन्द्य कुलमें न जाय। दानशाला, विवाहस्थान, मृतक-सूतकस्थान, नृत्य-गान-वादित्र-स्थान, रुदनस्थान, विसवाद, द्यूतक्रीडाके स्थानमें न जाय। जहां अनेक भिक्षुक एकत्र हो रहे हो, किवाड़ लगे हो, मनुष्योंकी भीड़ हो, सकरा मार्ग हो, जहां आने-जानेकी कठिनाई हो, ऊट, घोड़ा, बैल आदि पशु खड़े हों, या बचे हो, घुटनोंसे ऊंचा चढ़ने तथा डूठी (टुंडी) से नीचा माथा करके उतरने योग्य स्थानमें साधु भोजनको न जाय। दीन-अनाथ, निधकर्म द्वारा आजीविका करने वालोंके गृह न जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम कुलवालोंके गृहके आगन तक जाय, जहां तक किसीके आने-जानेकी रोक न हो। आशीर्वाद, धर्मलाभादि न कहे, इशारा न करे, पेट न बतावे, हुकारा न करे, भ्रुकुटी न चलावे। यदि उत्साहपूर्वक गृहस्थ पड़-गाहे तो जाकर शुद्ध आहार ले। न पड़गाहे तो तत्काल अन्य गृह चला जाय। किसी गृहको छोड़े पीछे फिर उसमें उस दिन न जाय। अन्तराय हो जाय, तो अन्य गृह भी न जाय।

भिक्षाके पंच प्रकार—(१) गोचरी—जैसे गाय घास खाती है, घास डालनेवालेकी तथा उसके वस्त्राभूषणकी सुन्दरता नहीं देखती, वैसे ही मुनि योग्य-शुद्ध भोजन करते हैं, दातारके ऐश्वर्य, सुन्दरतादिक नहीं देखते। (२) अक्षमृक्षण—जैसे वणिक गाड़ीको घी, तेलसे औघकर अपना माल इष्टस्थानको ले जाता है तैसे ही साधु रत्नत्रयकी स्थिरता तथा वृद्धिके निमित्त रस-नीरस आहार लेते हैं। (३) उदराग्नि-प्रशमन—जैसे प्रज्वलित अग्निको जलसे बुझाते हैं, वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे क्षुधा शान्त करते हैं। (४) गर्तपूरणवृत्ति—जैसे गृहस्थ गृह-स्थित गड्ढेको कूड़ा-मिट्टी आदिसे भरकर पूर्ण करता है वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे उदर भरते हैं। (५) आमरी—जैसे अमर कमलादि पुष्पोंका रस लेता परन्तु

वाधा नही पहुचाता वैसे मुनि दातारको किसी प्रकार कष्ट-वाधा-उद्वेग पहुचाये बिना आहर लेते हैं।

आहार-सम्बन्धी दोष

१६ उद्गम दोष - जो दोष दातारके अभिप्रायोसे आहार तय्यार करनेमें उपजे सो उद्गम दोष कहाते हैं। यदि पात्रको मालूम हो जाय तो ऐसा आहार ग्रहण न करे। वे १६ हैं—(१) जो पट्कायके जीवोंके वधसे उपजे सो अघ-कर्म नामक महान् दोष है (२) साधुका नाम लेकर भोजन बनाना सो उद्देशिक दोष है (३) सयमी को देख भोजन बनानेका आरम्भ करना सो अध्यदि दोष है (४) प्रासुक भोजनमें अप्रासुक भोजन मिलाना सो प्रति दोष है (५) असयमीके योग्य भोजनका मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोईके स्थानसे अन्यत्र आपके वा परके स्थानमें रक्खा हुआ भोजन लाकर गृहस्थ देवे और पात्र लेवे सो स्थापित दोष है (७) यक्ष, नागादिके पूजन-निमित्त किया हुआ भोजन, पात्रको देना सो वलि दोष है (८) पात्रको पडगाहे पीछे, कालकी हानि-वृद्धि अथवा नवधाभक्तिमें शीघ्रता या विलम्ब करना सो प्रावर्तिक दोष है (९) अघेरा जान मडपादिको प्रकाशरूप करना सो प्राविशकरण दोष है (१०) अपने पास वस्तु नही, दूसरेसे उधार लाकर देना सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तुके बदले, दूसरे गृहस्थसे कोई वस्तु लाना सो परिवर्तिक दोष है (१२) तत्काल देशान्तर से आई हुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) वधी या छादा लगी हुई वस्तु खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोईके मकानसे ऊपरके मकान में रक्खी हुई वस्तु नसैनी पर चढकर निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग, त्रास, भयको उत्पन्न करनेवाला भोजन देना सो आच्छेद्य दोष है (१६) दातारका असमर्थ होना सो अनिसार्थ दोष है।

१६ उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करनेमें अभिप्राय सम्बन्धी दोष पात्रके आश्रय लगते हैं (१) गृहस्थ को मजन, मडन, क्रीडनादि घात्रीकर्म का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना सो घात्री दोष है (२) दातारको परदेश के समाचार कहकर आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है (३) अष्टाग-निमित्त बताकर आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है (४) अपना जाति-कुल-तपश्चर्यादिक बताकर आहार लेना सो आजीवक दोष है (५) दातार

के अनुकूल वचन कहकर आहार लेना सो वनीपकदोष है (६) दातारको औषधि बताकर आहार ग्रहण करना सो चिकित्सा दोष है (७, ८, ९, १०) क्रोध, मान, माया, लोभसे, आहारग्रहण करना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है (११) भोजनके पूर्व दातार की प्रणसा कर आहार ग्रहण करना सो पूर्वस्तुति दोष है (१२) आहार ग्रहण किये पीछे दातारकी स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति दोष है (१३) आकाशगामिनी आदि विद्या बताकर आहार ग्रहण करना सो विद्या दोष है। (१४) सर्प-बिच्छू आदिका मंत्र बताकर आहार ग्रहण करना सो मंत्र दोष है (१५) शरीरकी शोभा-निमित्त चूर्णादि बता आहार ग्रहण करना सो चूर्ण दोष है (१६) अवशको वश करनेकी युक्ति बताकर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है।

१४ आहार-सम्बन्धी दोष—जो दोष भोजन के आश्रय लगते हैं—(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य ? खाद्य है या अखाद्य ? ऐसी शकाका होना सो शक्ति दोष है (२) सचिवकण हाथ या वर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो मृक्षित दोष है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो निक्षिप्त दोष है (४) सचित्त पत्रादिसे ढका हुआ भोजन करना सो पिहित दोष है (५) दान देनेकी शीघ्रतासे भोजन को नहीं देख-कर या अपने वस्त्रोंको नहीं सम्भालकर आहार देना सो सव्यवहरण दोष है (६) सूतक आदि युक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना सो दायक दोष है (७) सचित्तसे मिला हुआ आहार सो उन्मिश्र दोष है (८) अग्निसे परिपूर्ण नहीं पचा व जल गया अथवा तिल, तदुल, हरड आदिसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण बदले बिना जल ग्रहण करना सो अपरिणत दोष है (९) गेरू, हरताल, खडी आदि अप्रासुक द्रव्यसे लिप्त हुए पात्र द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना सो लिप्त दोष है (१०) दातार द्वारा पात्रके हस्तमे स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्रमे से गिरता हो, अथवा पाणि-पात्रमे आये हुए आहारको छोड़कर और आहार लेय ग्रहण करना सो परित्यजन दोष है (११) शीतल भोजन या जलमे उष्ण अथवा उष्णभोजन या जलमे शीतल मिलाना सो सयोजन दोष है (१२) प्रमाणसे अधिक भोजन करना सो अप्रमाण दोष है (१३) अतिगृद्धता सहित आहार लेना सो अंगार दोष है (१४) भोजन प्रकृति-विरुद्ध है, ऐसा सक्लेश या ग्लानि करता हुआ आहार लेना सो घूम दोष है।

अपने तई स्वतः भोजन तथा उसकी सामग्री तय्यार करना सो

अथ कर्म दोष कहाता है । यह ४६ दोषोके अतिरिक्त महान् दोष है जो मुनिव्रत को मूलसे नष्ट करता है ।

चौदह मल-दोष—१ नख २ बाल ३ प्राणरहित शरीर ४ हाड ५ कण (जव, गेहूँ आदिका बाहरी अवयव) ७ राधि ८ त्वचा (चर्म) ९ बीज (गेहूँ, चना आदि) १० लोहू ११ मास १२ सचित फल (जामुन, आम आदि) १३ कन्द १४ मूल ।

रुधिर, मांस अस्थि, चर्म, राध ये पांच महादोष हैं, इनके देखने मात्रसे आहार तजे, यदि स्पर्श हुआ हो तो प्रायश्चित्त भी ले । बाल, विकलत्रय प्राणीका शरीर तथा नख निकले तो आहार तजे और किंचित् प्रायश्चित्त भी ले । कण, कुण्ड, कद, बीज, फल, मूल भोजनमें हो तो अलग करदे, न होसकें तो भोजन तजे । राध-रुधिर सिद्धभक्ति किये पीछे दातार पात्र दोनोंमें से किसी के निकल^१ आवे तो भोजन तजे तथा मांसको देखते ही भोजन तजे ।

उत्कृष्ट एक मुहूर्त मध्यम दो मुहूर्त, जघन्य तीन मुहूर्त काल सिद्ध-भक्ति किये पीछे भोजनका कहा है ।

उपर्युक्त प्रकार आहारके जो ४६ दोष कहे हैं, वे ही दोष वस्तिका सम्बन्धी है तथा एक अथ कर्म महान् दोष और भी है, जिसमें वस्तिका तथा उस सम्बन्धी सामग्रीका तय्यार करना जानना ।

बत्तीस अन्तराय—अन्तराय, सिद्धभक्ति किये पीछे होने पर माना जाता है—(१) भोजनको जाते समय ऊपर काकादि पक्षीका बीट कर देना (२) पगका विष्टादि मलसे लिप्त हो जाना (३) वमनहो जाना (४) भोजनको गमन करते कोई रोक देवे (५) रुधिर-राधकी धार वह निकले (६) भोजनके समय अश्रुपात हो जाय अथवा अन्यके अश्रुपात देखे या विलाप करता देखे (७) भोजनके निमित्त जाते गोड़ो (घुटने) से ऊची पंक्ति चढना पड़े (८) साधुका हाथ गोड़े (घुटने) से नीचे स्पर्श हो जाय (९) भोजनके निमित्त नाभिसे नीचा माथा कर द्वारमेंसे निकलना पड़े (१०) त्यागी हुई वस्तु भोजनमें आजाय (११) भोजन करते हुए अपने सामने किसी प्राणीका वध हो जाय (१२) भोजन करते हुए काकादि पक्षी ग्रास लेजाय (१३) भोजन करते हुए-पात्रके हस्तमेंसे ग्रास गिर जाय

१. किसी-किसी ग्रन्थमें राधि-रुधिर चार अंगुलतक बहने पर अन्तराय मानना कहा है

(१४) कोई त्रसजीव साधुके हस्तमे आकर मर जाय (१५) भोजनके समय मृतक पचेन्द्रियका कलेवर देखे (१६) भोजनके समय उपसर्ग आजाय (१७) भोजन करते हुए साधु के दोनो पावोके मध्यमे से मेढक, चूहा आदि पचेन्द्रिय जीव निकल जाय (१८) दातारके हाथसे भोजनका पात्र गिर पड़े (१९) भोजन करते समय साधुके गरीरसे मल निकल आवे (२०) मूत्र निकल आवे (२१) भ्रमण करते हुए शूद्रके गृहमे प्रवेश हो जाय (२२) साधु भ्रमण करते हुए मूर्च्छा खाकर गिर पड़े (२३) भोजन करता हुआ साधु रोगवश बैठ जाय (२४) श्वानादि पचेन्द्रिय काटखाय (२५) सिद्धभक्ति किये पीछे हस्तसे भूमिका स्पर्श हो जाय (२६) भोजनके समय कफ, थूकादि गिर पड़े (२७) भोजन समय साधुके उदरसे कृमि निकल आवे (२८) भोजन करते समय साधु के हस्तसे परवस्तुका स्पर्श हो जाय (२९) भोजन करते हुए कोई दुष्ट साधुको या अन्यको खड्ग मारे (३०) भोजन निमित्त जाते हुए गावमे आग लग जाय (३१) भोजन करते हुए साधुके चरणसे किसी वस्तुका स्पर्श हो जाय (३२) भोजन करने हुए साधु भूमि पर पड़ी हुई वस्तु को हाथ से छूले ।

और भी चांडालादि अस्पर्श के स्पर्श होते, किसी से कलह होते, इष्ट गुरु, शिष्यादि का व राजादि प्रधान पुरुषोका मरण हो उस दिन उपवास करे ।

निवास और चर्या—साधु छोटे ग्राममे एक दिन तथा नगरमे पाच दिनसे अधिक नहीं ठहरे, चौमासे भर एक स्थान मे रहे । समाधिमरण आदि विशेष कारणोसे अधिक दिन भी ठहर सकता है । एक स्थानपर न रहने और विचरते रहनेसे रागद्वेष नहीं बढ़ता और जगह-जगहके भव्यजीवोका उपकार होता है । गमन करते समय जीवोके रहनेके स्थान, जीवोकी उत्पत्ति-रूप योनिस्थान तथा जीवोके आश्रयस्थान जानकर यत्नाचारपूर्वक गमन करे, जिसमे जीवोको पीडा न हो । सूर्य प्रकाशमे नेत्रद्वारा भलीभाँति देखता हुआ, ईर्यापथ शोधता हुआ गमन करे । न धीरे-धीरे गमन करे, न शीघ्रतासे । इधर-उधर न देखे । नीचे पृथ्वी अवलोकन करता हुआ चले । मनुष्य, पशु आदि जिस मार्गपर चले हो, प्रातः कालके पवनने जिस मार्गको स्पर्श किया हो, सूर्य-किरणोका संचार जिस मार्गमें हुआ हो, अधेरा न हो, ऐसे प्रासुकमार्गसे दिनमे गमन करे, रात्रिको गमन न करे ।

प्रसिद्ध सिद्ध-क्षेत्रो, जिन प्रतिमाओकी वदनाके लिये तथा गुरु, आचार्य व तपमे अधिक मुनियोकी सेवा-वैयावृत्तिके निमित्त गमन करे ।

साधु अकेला गमन न करे, कम-से-कम एक मुनिका साथ अवश्य हो। एकल विहारी (अकेला गमन करनेवाला) वही मुनि हो सकता है, जो वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्र-नाराच अथवा नाराच संहननका धारक हो, अग-पूर्व तथा प्रायश्चित्तादि ग्रन्थोका पाठी हो, ऋद्धिके प्रभावसे जिसके मल-मूत्र न होता हो। यदि इन गुणों के रहित एकलविहारी हो जाय, तो धर्मकी निन्दा तथा हानि होती है।

मुनि, नगरसे दूर वनमे, पर्वतकी गुफा, मसानमूमि, सूने घर, वृक्षकी कोटर आदि एकान्त-स्थानोमे वास करे। विकार, उन्माद तथा चित्तमे व्यग्रता उत्पन्न होने के कारणरूप स्त्री, नपुंसक, ग्राम्य-पशु आदि युक्त स्थानोको दूर ही तजे।

जो क्षेत्र राजा-रहित हो, जिस नगर, ग्राममे स्वामी न हो, जहाँके लोग स्वेच्छाचारी हो, जहाँ राजा दुष्ट हो, जहाँ नगर-ग्राम-घरका स्वामी दुष्ट हो, ऐसे धर्म-नीतिरहित स्थानमे मुनि विहार न करे।

अष्ट मुनियोकी सगति न करे। अष्टमुनि ५ प्रकारके होते हैं—
 (१) पाश्वंस्थ—जिन्होने वस्तिका, मठ, मकान बाँध रक्खा हो, शरीरसे ममत्व रखते हो, कुमार्गगामी हो, उपकरणोके एकत्र करनेमे उद्यमी हों, भावोकी विशुद्धता रहित हो, सयमियोसे दूर रहते हो, दुष्ट, असयमियो की सगति मे रहते हो, इन्द्रिय-कषाय जीतनेको असमर्थ हो। (२) कुशील - जिनका निन्द्य स्वभाव हो। जो क्रोधी, व्रत शील-रहित हो। धर्मका अपयश तथा सधका अपवाद कराने वाले हो, उत्तरगुण-मूलगुण-रहित हो। (३) ससक्त—जो दुर्वुद्धि, असयमियो के गुणोमे आसक्त, आहार मे अति लुब्ध हो, वैद्यक-ज्योतिष-यत्र-मंत्र करते हो, राजादिकके सेवक हो। (४) अपगत या अवसन्न—जो जिनवचनके ज्ञानरहित, आचार अष्ट, ससार सुखोमे आसक्त हो, ध्यानादि शुभोपयोगमे आलसी हो। (५) मृगचारी—जो स्वेच्छचारी, गुरुकुलके त्यागी, जैनमार्गको दूषण देनेवाले, आचार्यके उपदेश रहित एकाकी भ्रमण करने वाले, मृगसमान चरित्र धारने मे धैर्यरहित तथा तपमार्ग से परान्मुख हो।

ये पाचो दिग्भ्रर भेषधारी द्रव्यलिङ्गी, जिर्नलिङ्ग से बाह्य, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररहित होते हैं।

मुनिके धर्मोपकरण

शौचका उपकरण कमंडल—यह काष्ठका बनता और श्रावको द्वारा मुनिको प्राप्त होता है। इसमें श्रावको द्वारा प्राप्त उष्ण किया हुआ जल रहता है। मुनि इस जलसे लघुशका-शौच-सम्बन्धी अशुचि मेटते हैं। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक सामायिक, स्वाध्यायादि षट्कर्मोंमें प्रवर्तते हैं। यदि लौकिक शुचि न की जाय, तो व्यवहारका लोप हो जाय, लोकनिन्द्य होवे, अविनय होवे, गृहस्थोके मनमें उनसे घृणा-उत्पन्न हो जाय। हाँ! यदि शरीरकी स्वच्छताके लिये कमंडलके जलसे स्नान किया जाय, मैल उतारा जाय या पीनेके काम में लाया जाय, तो वही कमंडल परिग्रहरूप असयमका कारण होता है।

ज्ञान का उपकरण शास्त्र—साधु ध्यानसे निवृत्त होने पर ज्ञान की वृद्धि तथा परिणामोकी निर्मलताके लिए स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्याय के लिए आवश्यकतानुसार श्रावको द्वारा प्राप्त हुए एकदो शास्त्र यत्नाचारपूर्वक अपने साथ रखते हैं। जब कोई शास्त्र पूर्ण हो जाता है तो उसे वापिस कर देते या किसी मन्दिरमें विराजमान कर देते हैं। यदि वही शास्त्र अपने महत्व बतानेको बहुतसे एकत्र करके साथमें लिए फिरें, तो परिग्रहरूप असयमके कारण होते हैं।

संयम का उपकरण पिच्छिका पिच्छिका मयूर के स्वाभाविक रीतिसे छोड़े हुए पखोसे बनाई जाती है। मयूर के पखोकी पिच्छी बनानेसे यह लाभ है कि इसमें सचित्त-अचित्त रज नहीं लगती, पसेव, जलादि प्रवेश नहीं करता, कोमल और कम वजन होती, इसका स्पर्श सुहावना लगता है। साधु, जीव, जन्तुओंकी रक्षा निमित्त जमीनको पीछीसे मार्जन करके उठते-बैठते तथा हर एक वस्तुको पीछीसे मार्जन करके उठाते-रखते हैं। इसी प्रकार शरीरको भी पीछीसे मार्जन करते हैं, सस्तरको शोधते हैं जिससे किसी जीव जन्तुको बाधा न हो। यदि अपने शारीरिक आरामके लिए पीछीसे पृथ्वीपरके ककरादि भाडकर सोवे, बैठें तो वही पीछी परिग्रह रूप असयमकी करनेवाली होती है।

जो निकटभव्य समग्नान द्वारा हेय उपादेयको भलीभाँति जान, महाव्रत धारण करके सवर निर्जरापूर्वक उसी पर्याय में मोक्ष प्राप्ति करना चाहते हैं, वे तीन गुप्ति, पचसमिति, पचाचार, दशधर्म, द्वादश तप पालते हुए

वाईस परीषह सहन करते हुए धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप आचरण भी करते हैं, क्योंकि विना साधनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती ।

तीन गुप्ति

जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य गोपिये अर्थात् रक्षित कीजिए, सो गुप्ति कहाती है । जैसे कोटद्वारा नगरकी रक्षा होती है, उसी प्रकार गुप्तिद्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम अथवा शुभाशुभ कर्मोंसे आत्मा की रक्षाकी जाती है । वे तीन हैं । यथा .

मनोगुप्ति—मनसे रागद्वेषादिका परिहार करना ।

वचनगुप्ति - असत अभिप्रायसे वचन की निवृत्ति कर, मौनपूर्वक ध्यान-अध्ययन-आत्मचित्तवनादि करना ।

कायगुप्ति—हिंसादि पापों की निवृत्तिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना, कायसम्बन्धी चेष्टाकी निवृत्ति करना ।

मुनिराज मन-वचन-कायका निरोध करके आत्मध्यानमे ऐसे लवलीन रहते हैं कि उनकी वीतराग स्थिरमुद्रा देखकर वनके मृगादि पशु पाषाण या ठूठ जानकर उनसे खाज खुजाते हैं । ऐसा होते हुए भी वे ध्यानमे ऐसे निमग्न रहते हैं कि उन्हें इसका कुछ भी भान नहीं होता ।

नोट— इन तीनोंमे मनोगुप्ति सबसे श्रेष्ठ है । मनकी स्थिरता होनेसे वचन-काय गुप्ति सहजमे पल सकती है । इसी कारण आचार्योंने जहाँ-तहाँ मनवश करनेका उपदेश दिया है । अतएव आत्मकल्याणके इच्छुकोंको आत्मस्वरूप तथा द्रव्यस्वरूपके चित्तवनमे लगकर क्रमश मनको वश करनेका अभ्यास करना योग्य है ।

अतीचार—मनोगुप्तिके अतीचार—रागादि सहित स्वाध्याय मे प्रवृत्ति व अन्तरगमे अशुभ परिणामोका होना ।

वचनगुप्ति के अतीचार—राग तथा गर्वसे मौन धारण करना ।

कायगुप्ति के अतीचार—असावधानीपूर्वक कायकी क्रियाका त्याग करना, एक पाँव से खड़ा हो जाना तथा सचित्त भूमि मे बैठना ।

पंचाचार

सम्यग्दर्शनादि गुणोमे प्रवृत्ति करना सो आचार कहाता है । वह पाँच प्रकारका है । यथा—

१ दर्शनाचार—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त परद्रव्योसे भिन्न, शुद्ध, चैतन्यरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान या इसकी उत्पत्तिके कारणभूत षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व अथवा सुगुरु, सुदेव, सुधर्मका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है । इस सम्यग्दर्शन प्रवृत्तिको दर्शनाचार कहते हैं ।

२ ज्ञानाचार—शुद्ध आत्माको स्वसवेदन भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि परभावोसे भिन्न उपाधि रहित जानना अथवा स्वपर तत्त्वोको आगम तथा स्वानुभवसे निर्वाधि जानना सो सम्यक्ज्ञान है । इस सम्यक्ज्ञान रूप प्रवृत्तिको ज्ञानाचार कहते हैं ।

३ चारित्राचार—उपाधिरहित शुद्धात्मा के स्वाभाविक सुखास्वादमे निश्चल चित्त करना अथवा हिंसादि पापोका अभाव करना सो सम्यक्-चारित्र है । इस सम्यक्चारित्ररूप प्रवृत्तिको चारित्राचार कहते हैं ।

४ तपाचार—समस्त परद्रव्योसे इच्छा रोक, प्रायश्चित्त, अनशनादिरूप प्रवर्तना, निजस्वरूपमे प्रतापरूप रहना सो तप है । इस तपरूप आचरण को तपाचार कहते हैं ।

५ वीर्याचार—इन उपर्युक्त चार प्रकारके आचारोकी रक्षामे शक्ति न छिपाना अथवा परिषहादि आने पर भी इनसे नही चिगना, सो वीर्य है । इस वीर्यरूप प्रवृत्ति को वीर्याचार कहते हैं ।

द्वादश तप

जिससे इन्द्रिया प्रवल होकर मनको चंचल न करने पावे, उस प्रकार चारित्र के अनुकूल कायक्लेशादि तप साधन करना, तथा अविपाक-निर्जराके निमित्त अन्तरगमे विषय-कषायोकी निवृत्ति करना सो तप कहाता है । यह बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार का है—

१ बाह्य तप—जो काय सल्लेखनाके निमित्त इच्छा निरोधपूर्वक नित्य—नेमित्तिक क्रियाओ का साधन किया जाय और जो बाहरसे दूसरोको प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे । यह बाह्य तप छे भेदरूप है : (१) अनशन—आत्माका इन्द्रियमन के विषय-वासनाओसे रहित होकर आत्मस्वरूप मे

वास करना सो उपवास कहाता है । सयम की सिद्धि, राग के अभाव, कर्मों के नाश, ध्यान और स्वाध्याय मे प्रवृत्तिके निमित्त इन्द्रियोका जीतना, इस लोक, परलोक सम्बन्धी विषयो की वाछा न करना, मनको आत्मस्वरूप अथवा शास्त्र स्वाध्यायमे लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिन की मर्यादारूप चार प्रकार आहारका त्याग करना सो अनशन तप है (२) अवमोदर्य—कीर्ति-माया, कपट, मिष्ट भोजन के लोभरहित अल्प-आहार लेना सो ऊनोदर तप है । सयम की सिद्धि, निद्राके अभाव, वात, पित्त, कफके प्रकोपकी प्रशान्ति, सन्तोष, सुखसे स्वाध्यायके निमित्त एक ग्रास ग्रहण कर गेप त्याग करना सो उत्कृष्ट ऊनोदर और एक ग्रासका त्याग कर ३१ ग्रास पर्यन्त आहार लेना सो मध्यम तथा जघन्य ऊनोदर है । सावुके लिए उत्कृष्ट आहार ३२ ग्रास प्रमाण शास्त्रोमे कहा है, और वह एक ग्रास एक हजार चावल प्रमाण कहा है (३) वृत्तिपरिसख्यान—भोजन की आशा-तृष्णाको निराश करने के लिए अटपटी मर्यादा लेना और कर्मयोगसे सकल्पके माफिक प्राप्त होने पर आहार लेना सो वृत्तिपरिसख्यान तप है । अर्थात् भिक्षाके लिए अटपटी आखडी करके चित्तके सकल्पको रोकना सो वृत्तिपरिसख्यान तप है (४) रसपरित्याग—इन्द्रियोके दमन, दर्पकी हानि, सयम के उपरोध निमित्त घृत, तैलादि छ रस अथवा खारा-खट्टा-मीठा-कडुवा-तीखा-कषायला, इन छहो रसोका वा एक दो आदिका त्याग करना सो रसपरित्याग तप है (५) विवक्तशय्यासन—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यानकी सिद्धिके लिए प्राणियोकी पीडारहित, शून्यागार, गिर, गुफा आदि एकान्तस्थानमे शयन, आमन, ध्यान करना सो विवक्तशय्यासन तप है (६) कायक्लेश—जिस प्रकार चित्तमे क्लेश-खेद न उपजे, उस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार साम्यभावपूर्वक प्रतिमायोग धार परीपह सहते हुए आत्म-स्वरूपमे लवलीन रहना सो कायक्लेश तप है । इससे सुखकी अभिलाषा कुश होती, रागका अभाव होता, कष्ट सहने का अभ्यास होता और प्रभावनाकी वृद्धि होती है ।

२ आम्यन्तर तप—जो कषायोकी सल्लेखना अर्थात् मनको निग्रह करनेके लिए क्रियाओका साधन किया जाय और दूसरोकी दृष्टि मे न आवे । यह भी छ. प्रकारका है—(१) प्रायश्चित्त—प्रमादजनित दोषोको प्रति-क्रमणादि पाठ या तप-व्रतादि द्वारा दूर कर चारित्र शुद्ध करना सो प्राय-श्चित्त तप है । इसमे व्रतोकी शुद्धता, परिणामोकी निर्मलता मानकषायकी मन्दता होती है (२) विनय—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारमे

परिणामोकी विशुद्धता करना सो विनय तप है। सम्यग्दर्शनमे शकादि अतीचार रहित परिणाम करना सो दर्शनविनय है। ज्ञानमे सशयादिरहित परिणाम करना तथा अष्टागरूप अभ्यास करना सो ज्ञान विनय है। हिंसादि परिणामरहित निरतीचार चारित्र पालनेरूप परिणाम करना सो चारित्रविनय है। तपके भेदोको निर्दोष पालनरूप परिणाम करना सो तप विनय है। रत्नत्रयके धारक मुनियोके अनुकूल भक्ति तथा तीर्थादिकी वन्दनारूप आचरण करना सो उपचारविनय है। विनय तपसे ज्ञानादि गुणोकी प्राप्ति तथा मान कपायका अभाव होता है (३) वैयावृत्य—जो मुनि अशुभ कर्म के उदय तथा उपसर्गसे पीड़ित हो, उनका दुख-उपसर्ग पूजा-महिमा-लाभ की वाछारहित होकर दूर करना, हाथ-पाँव दवाना, शरीर की सेवा करना तथा उपदेग व उपकरण देना सो वैयावृत्त है। इससे गुणानुराग प्रगट होता तथा मान कपाय कृग होती है (४) स्वाध्याय—ज्ञान भावना के लिए अथवा कर्मक्षयनिमित्त, आलस्यरहित होकर, जैन सिद्धान्तो का पढना, अभ्यास करना, धर्मोपदेग देना, तत्त्व निर्णयमे प्रवृत्ति करना सो स्वाध्याय तप है। इससे बुद्धि स्फुर्गयमान होकर परिणाम उज्ज्वल होते, सवेग होता, धर्मकी वृद्धि होती है (५) व्युत्सर्ग—अतरग तथा बाह्य परिग्रहो से त्यागरूप बुद्धि रखना अर्थात् शरीर सस्काररहित, रोगादि इलाजरहित, शरीरसे निरपेक्ष, दुर्जनोके उपसर्गमे मध्यस्थ, देहसे निर्ममत्त्व, स्वरूपमे लीन रहना सो व्युत्सर्ग तप है। इससे नि परिग्रहपना, निर्भयपना प्रगट होकर मोह क्षीण होता है (६) ध्यान—समस्त चिंताओ को त्याग, मन्द कपायरूप धर्मध्यान और अति मन्द कपायरूप व कपायरहित शुक्लध्यानमे प्रवृत्ति करना, सो ध्यान तप है। इससे मन वशीभूत होकर अनुकूलताकी प्राप्ति एव परमानन्दमे मग्नता होती है।

बाह्य तपके अभ्याससे शरीर निरोग रहता, कदाचित रोगादि कष्ट भी आ जाय तो चित्त चलायमान नही होता, सन्तोषवृत्ति रहती है। अन्तरग तपके प्रभावसे आत्मीक विचित्र-विचित्र शक्तिया प्रकट होती, अनेक ऋद्धिया उत्पन्न होती, देव-मनुष्य-तिर्यञ्चादि वश होते, यहां तक कि कर्मो की अविपाक निर्जरा होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

ध्यान

उपयोग (चित्तवृत्ति) को अन्य चिन्ताओसे रोककर एक ज्ञेय पर स्थिर करना ध्यान कहाता है। ध्यानका उत्कृष्टकाल उत्तम सहनन के धारक पुरुषोके अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात् वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्रनाराच,

नाराच सहनन के धारक पुरुषोंका अधिक से अधिक एक समय कम दो घड़ी तक (अन्तर्मुहूर्त तक) एक ज्ञेय पर उपयोग स्थिर रह सकता है, पीछे दूसरे ज्ञेय पर ध्यान चला जाता है। इस प्रकार बदलता हुआ बहुत काल तक भी ध्यान हो सकता है। यह ध्यान अप्रशस्त, प्रशस्त भेदसे दो प्रकार का है।

आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। इनका फल निकृष्ट है। ये ससारपरिभ्रमणके कारण, नरक-तिर्यञ्च गतिके दुखोंके मूल हैं और अनादिकालसे स्वयं ही ससारी जीवोंके वन रहे हैं। इसलिए इनकी वासना ऐसी दृढ़ हो रही है कि रोकते-रोकते भी उपयोग इनकी तरफ चला जाता है। सम्यक्ज्ञानी पुरुष ही इनसे चित्त को निवृत्त कर सकते हैं।

धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं, इनका फल उत्तम है, ये स्वर्ग-मोक्षके सुखके मूल हैं, ये ध्यान जीवोंके कभी भी नहीं हुए। यदि हुए होते तो फिर ससार भ्रमण न करना पड़ता। इसलिए इनकी वासना न होने से इनमें चित्तका लगना सहज नहीं, किन्तु बहुत ही कठिन है। अतएव जिस तिस प्रकार प्रयत्न करके इन ध्यानोका अभ्यास बढ़ाना चाहिए और तत्त्व-चित्तवन आत्मचित्तवनमें चित्त स्थिर करना चाहिए।

यहाँ पर चारो ध्यानके सोलहो भेदोंका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया जाता है जिससे इनका स्वरूप भलीभाँति जानकर अप्रशस्त ध्यानोसे निवृत्ति और प्रशस्त ध्यानोमें प्रवृत्ति हो।

आर्त्त ध्यान—दुःखमय परिणामो का होना सो आर्त्तध्यान है। इसके चार भेद हैं—(१) इष्टवियोगज आर्त्तध्यान—इष्टप्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषोंके वियोग से सकलेशरूप परिणाम होना (२) अनिष्ट सयोगज आर्त्तध्यान—दुखदाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ोसी, पशु आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषोंके संयोग होनेसे सकलेशरूप परिणाम होना (३) पीडा चित्तवन आर्त्तध्यान—रोगके प्रकोप की पीडासे सकलेशरूप परिणाम होना वा रोग का अभाव चित्तवन करना (४) निदानबध आर्त्तध्यान—आगामी कालमें विषयभोगोंकी वाछारूप सकलेश परिणाम होना।

ये आर्त्तध्यान ससारकी परिपाटीसे उत्पन्न और ससारके मूल कारण हैं। मुख्यतया तिर्यञ्चगतिको लेजानेवाले हैं। पाचवे गुणस्थान तक चारो और छठेमें निदानबधको छोड़ शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं। परन्तु

सम्यक्त्व अवस्थामे मन्द होनेसे तिर्यञ्चगतिके कारण नहीं होते ।

रौद्र ध्यान—क्रूर (निर्दय) परिणामोका होना सो रौद्र ध्यान है । यह चार प्रकारका है—(१) हिंसानन्द—जीवोको अपने तथा परके द्वारा वध-पीडित, ध्वंस-घात होते हुए हर्ष मानना, वा पीडित करने-करानेका चितवन करना (२) मृषानन्द—आप असत्य झूठी कल्पनाये-करके तथा दूसरोके द्वारा ऐसा होते हुए देख जानकर आनन्द मानना वा असत्य भाषण करने-करानेका चितवन करना (३) चौर्यानिन्द—चोरी करने-करानेका चितवन तथा दूसरोके द्वारा इन कार्योंके होते हुए आनन्द मानना (४) परिग्रहानन्द—क्रूर चित्त होकर बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रहरूप सकल्प वा चितवन करन या अपने-पराये परिग्रह बढ़ने-वढानेमे आनन्द मानना ।

ये रौद्रध्यान नरक ले जानेवाले हैं । पंचम गुणस्थान तक होते हैं परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामे मंद होनेसे नरकगति के कारण नहीं होते ।

धर्मध्यान—सातिगय पुण्यबंधका कारण, शुद्धोपयोगका उत्पादक शुभ परिणाम सो धर्मध्यान कहाता है । इसके मुख्य चार भेद हैं—(१) आज्ञा-विचय—इस धर्मध्यानमें जैनसिद्धान्तमे प्रसिद्ध वस्तु स्वरूपको सर्वज्ञ भगवान की आज्ञाकी प्रधानता से यथा सम्भव परीक्षापूर्वक चितवन करना और सूक्ष्म-परमाणु आदि, अ तरित—राम-रावणादि, दूरवर्ती—मेरुपर्वतादि ऐसे छद्मस्थके प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोके अगोचर पदार्थोंको सर्वज्ञ बीतरागकी आज्ञा-प्रमाण ही सिद्ध मानकर तद्रूप चितवन करना (२) अपायविचय—कर्मोका नाश, मोक्षकी प्राप्ति किन उपायोसे हो, इस प्रकार आस्रव, वध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, आदि तत्त्वोका चितवन करना (३) विपाकविचय—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके निमित्तसे अष्टकर्मों के विपाकद्वारा आत्माकी क्या क्या सुख-दुःखादिरूप अवस्था होती है उसका चितवन करना (४) सस्थानविचय—लोक तथा उसके ऊर्ध्व-मध्य तिर्यक लोक सम्बन्धी विभागो तथा उसमे स्थित पदार्थोंका, पंचपरमेष्ठीका, अपने आत्माका चितवन करता हुआ, इनके स्वरूपमे उपयोग स्थिर करना । इसके पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत चार भेद हैं जिनका विशेष वर्णन श्रीज्ञानार्णवसे जानना ।

यद्यपि यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे सातवे गुणस्थान तक अर्थात् अव्रती श्रावकसे मुनियो तक होता है, तथापि श्रावक अवस्थामे आर्त्त, रौद्र, ध्यानके सदभावसे धर्मध्यान पूर्णविकासको प्राप्त नहीं होता इसलिये इसकी

मुख्यता मुनियोके ही होती है, विशेषकर अप्रमत्त अवस्थामें इसका साक्षात् फल स्वर्ग और परम्परासे शुद्धोपयोग पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति भी है।

शुक्ल ध्यान—शुक्लध्यान क्रियारहित, इन्द्रियोसे अतीत, ध्यानकी धारणासे रहित अर्थात् मैं ध्यान करू या ध्यान कर रहा हूँ, ऐसे विकल्परहित होता है जिसमें चित्तवृत्ति अपने स्वरूप के सम्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, उनमें प्रथम पाया तीन शुभ महननोमें और शेष तीन पाये वज्रऋषभनाराचसहनन में ही होते हैं। आदि के दो भेद तो ग्रग पूर्वके पाठी छद्मस्थो के तथा शेष दो केवलियोके होते हैं। ये चारो शुद्धोपयोग रूप है (१) पृथक्त्व-वितर्क-विचार—यह ध्यान श्रुतके आधारसे (वितर्कसहित) होता है, मन-वचन-काय तीनों योगोमें बदलता रहता है, अलग-अलग ध्येय भी श्रुतिज्ञानके आश्रय बदलते रहते हैं, अर्थात् एक शब्द-गुण पर्यायमें दूसरे शब्द-गुण-पर्यायपर चला जाता है। इसके फलसे मोहनीयकर्म शान्त होकर एकत्व-वितर्क अविचार ध्यानकी योग्यता होती है। यह आठवें गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है (२) एकत्व-वितर्क-अविचार—यह ध्यानभी श्रुतके आधारसे होता है। तीनों योगोमें से किसी एक योगद्वारा चित्तवन होता है। इसमें श्रुतिज्ञान बदलता नहीं, अर्थात् एक द्रव्य, एक गुण या एक पर्यायका एक योगद्वारा चित्तवन होता है। इससे घातिकर्मोंका अभाव होकर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यकी प्राप्ति होती है। यह बारहवें गुणस्थानमें होता है (३) सूक्ष्म क्रियाप्रतिपात—इसमें उपयोगकी क्रिया नहीं है, क्योंकि क्षयोपगमज्ञान नहीं रहा। श्रुतके आश्रयकी आवश्यकता नहीं रही क्योंकि केवलज्ञान हो गया। ध्यानका फल जो उपयोग को स्थिरता, सो भी हो चुकी। यहाँ वचन-मन-योग और वादरकाययोगका निरोध होकर सूक्ष्म काययोगका अवलम्बन होता, अन्त में काययोग का भी अभाव हो जाता है। अतएव इस कार्य होनेकी अपेक्षा उपचाररूपसे यहाँ सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति ध्यान कहा है। यह ध्यान तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है (४) व्युपरत क्रियानिवृत्ति—इसमें स्वासोच्छ्वासाकी भी विद्या नहीं रहती, यह चौदहवें गुणस्थानमें योगोके अभावकी अपेक्षा कहा गया है।

इस चतुर्थ शुक्ल ध्यानके पूर्ण होते ही आत्मा चारो अध्यातियां कर्मोंका अभाव करके ऊर्ध्वगमनस्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके

१. श्री क्षपणासारमें आठवेंसे बारहवें गुणस्थानके असख्यात भागों तक प्रथम शुक्लध्यान और बारहवें के सिर्फ असख्यातवें भागमें दूसरा शुक्लध्यान कहा है।

अग्रभाग अर्थात् अन्तर्मे जा सुस्थिर, सुप्रसिद्ध, सिद्ध, निकल-परमात्मा हो जाता है। इसके एक-एक गुणकी मुख्यता से परब्रह्म, परमेश्वर, मुक्तात्मा, स्वयम्भू आदि अनन्तनाम हैं। यह मुक्तात्मा धर्मास्तिकायके अभावसे लोकाकाशके आगे अलौकाकाशमे नहीं जा सकता। आकार इस शुद्धात्माका चरम (अन्तिम) शरीरसे किञ्चित् ऊन पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्माके ज्ञानावरणीकर्मके अभावसे अनन्त ज्ञान और दर्शनावरणी कर्म के अभाव से अनन्त दर्शनकी प्राप्ति होती है, जिससे यह लोकालोकके चराचर पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त गुणपर्यायो सहित युगपत् एक ही समय जानता-देखता है। अन्तरायकर्मके अभावसे ऐसी अनन्तवीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे खेदरहित हो उन सर्व पदार्थोंको देखता-जानता है। मोहनीय कर्मके अभाव होनेसे क्षायिक-सम्यक्त्व होता है, जिससे सर्वज्ञ होते हुए भी किसीमे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता और समता (शान्ति) रूप अनन्त सुख^१ की प्राप्ति होती है। आयुर्कर्म के अभावसे अवगाहन गुण उत्पन्न होता, जिससे इस मुक्तात्माके अनन्तकाल स्थायीपनेकी शक्ति उत्पन्न होती है (नाटक समयसार—मोक्षाधिकार)। गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघुत्वगुण उत्पन्न होता, जिससे सब शुद्धात्मा हलके-भारीपनेसे रहित हो जाते हैं। नामकर्मके अभावसे शरीर रहितपना अर्थात् सूक्ष्मत्व (अमूर्तित्व) गुणकी प्राप्ति होती, जिससे सिद्धात्माये अपनी अपनी सत्ता कायम रखती हुई एक दूसरेमे अवगाह पा सकती हैं। वेदनीय कर्मके अभावसे अव्यावाध गुणकी प्राप्ति होती, जिससे इस कृतकृत्य आत्मा के किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार मुक्त जीव यद्यपि व्यवहारनय अपेक्षा अष्टकर्मोंके अभाव से अष्टगुणमय कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे एक शुद्ध चैतन्यरस का पिंड है। यह ससारी अशुद्ध आत्मा, पुरुषार्थ करके इस प्रकार निष्कर्म, परमात्मा, परमेश्वर्य अवस्थाको प्राप्त हो, सदा स्वाभाविक शान्तिरसपूर्ण, स्वाधीन आनन्दमय रहता और सदाके लिए अजर-अमर हो जाता है। फिर जन्म मरण नहीं करता।

पुन इसीको दूसरी तरहसे ऐसा भी कह सकते हैं कि यह शुद्धात्मा सकल सयम (मुनिव्रत) के धारण करनेके फलस्वरूप, निज गुणोंके अति विकाश रूप पूर्ण अहिंसकपनेको प्राप्त हो जाता है। जिस अहिंसकपनेका

१ श्रीक्षपणसारमे मोहनीय कर्मके अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व, वीर्यान्तरायके अभाव से अनन्तवीर्य और शेष चारो अन्तराय और नव नोकपायके अभावसे अनन्त सुख होना कहा है।

परिवार ८४ लाख उत्तरगुण है। इसी प्रकार पुद्गल सयोग-जनित कुशील-भावका अभाव होनेसे यह सिद्धात्मा निजस्वरूप-विहारी, महाशीलवान् ब्रह्मचारी हो जाता है। जिस शीलगुणका परिवार १८ हजार उत्तर-गुण हैं।

चौरासी लाख उत्तरगुणों के भंग

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा ये पंच पाप। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय। मन-वचन-कायकी दुष्टता ये तीन योग। मिथ्यादर्शन १। प्रमाद १। पैशून्य १। अज्ञान १। भय १। रति १। अरति १। जुगुप्सा १। इन्द्रियो का अनिग्रह १। इन २१ दोषों का त्याग, अतीचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम चार प्रकारसे, पृथिवी कायादि १० के परस्पर सयोग रूप १०० की हिंसाका त्याग, १० अब्रह्मके कारणों का त्याग, १० आलोचनाके दोषोंका त्याग, १० प्रायश्चित्त के भेद। इस प्रकार उपर्युक्त सर्व भेदोंके परस्पर गुणित करने पर $(२१ \times ४ \times १०० \times १० \times १० \times १० = ८४,००,०००)$ चौरासी लाख दोषोंके अभावसे आत्मामे अहिंसाके चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होती है।

अठारह हजार शीलके भेद

मन-वचन-काय ३ गुप्ति, कृत-कारित-अनुमोदना ३, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ४ सज्ञा-विरति, पचेन्द्रिय-विरति ५, पृथ्वीकायादि १० प्राणिसयम, उत्तम क्षमादि दश धर्म, इस प्रकार इन सबके परस्पर गुणित करने पर $(३ \times ३ \times ४ \times ५ \times १० \times १० = १८,०००)$ शीलके भेद आत्मामे उत्पन्न होते हैं।

मुनिव्रतका सारांश—मोक्ष

मिथ्यादृष्टि जीवोंके बहुधा अशुभ उपयोग रहता है, कदाचित् किसीके मन्द कषायसे शुभोपयोग भी हो तो सम्यक्त्वके विना, निरतिशय पुण्यबंधका कारण होता है, जो किंचित् सांसारिक (इन्द्रिय-जनित) सुख-सम्पदाका नाटक दिखाकर अंत में फिर अधोगतिका पात्र बना देता है। ऐसा निरतिशय पुण्य मोक्षमार्गके लिये सहकारी नहीं होता। हां! जिस जीवके काललव्विकी निकटतासे तत्त्वविचार पूर्वक आत्मानुभव (सम्यक्त्व) हो जाता है, उसीके सातिशय पुण्यबंधका कारण सच्चा शुभोपयोग होता है।

इस सम्यक्त्व सहित शुभोपयोगके अभ्यन्तर ही दहीमे मक्खनकी नाई शुद्धोपयोगकी छटा झलकती है। ज्यो-ज्यो समय बढ़ता जाता, त्यों-त्यों उपयोग निर्मल होता जाता अर्थात् शुद्धोपयोगकी मात्रा बढ़ती जाती है। यह शुद्धोपयोगका अंकुर चौथे गुणस्थानसे शुभोपयोगकी छायामे अव्यक्त बढ़ता हुआ, सातवे गुणस्थानमे व्यक्त हो जाता है। यहां पर अव्यक्त मन्द-कषायोंके उदयसे किञ्चित्मलिन होने पर भी यद्यपि इसे द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है, क्योंकि छद्मस्थके अनुभवमे उस मलिनताका भान नहीं होता तथापि यथार्थमे दशवें गुणस्थानके अनन्तर ही कषायोंके उदयके सर्वथा अभाव होनेसे यथाख्यात-चारित्र्यरूप सच्चा शुद्धोपयोग होता है।

यह स्पष्ट ही है कि अशुभोपयोग पापवध का कारण, शुभोपयोग पुण्यवधका कारण और शुद्धोपयोग बधरहित (सवरपूर्वक) निर्जरा एवं मोक्षका कारण है। इस शुद्धोपयोगकी पूर्णता निर्ग्रन्थ (साधु) पद धारण करनेसे ही होती है, इसलिए मुनिव्रत मोक्षका असाधारण कारण है। जिस-प्रकार श्रावकको १२ व्रत निर्दोष पालनेसे उसके कर्त्तव्यकी पूर्णता होती है उसी प्रकार मुनिको पंच महाव्रत अथवा पंचाचार, पंच समिति, तीन गुप्तरूप तेरह प्रकार चारित्र्य निर्दोष पालने से साधुके कर्त्तव्यकी सिद्धि अर्थात् शुद्धोपयोगकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तेरह प्रकारके चारित्र्यमे से यथार्थमे ३ गुप्तिका पालन साधुका मुख्य कर्त्तव्य है, यह गुप्ति ही मोक्षकी दाता, मोक्ष-स्वरूप हैं। जब तक इनकी पूर्णता न हो, तब तक निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार साधुका सकल समय यथाख्यात चारित्र्य अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त कराता है। यद्यपि अष्टकर्मोंकी नाशक रत्नत्रयकी एकता, एक देश श्रावकके भी होती है तथापि पूर्णता मुनि अवस्थामे ही होती है। यह रत्नत्रयकी पूर्णता मोक्षकी कारण एवं मोक्षस्वरूप है, ससार-परिभ्रमणकी नाशक है। जो जीव मोक्षको प्राप्त हुए अथवा होवेंगे, वे सब इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यकी एकता से। यह ही आत्माका स्वभाव है, यही तीन लोकमे पूज्य है। इसकी एकता बिना कोटि यत्न करने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। जितने कुछ क्रिया-आचरण हैं वे सब इसी रत्नत्रयके सहकारी होनेसे धर्म कहलाते हैं। यह रत्नत्रय की एकता ही अद्भुत रसायन है, जो जीवको अजर-अमर बना देती है। इस पूज्य रत्नत्रयकी एकताको हमारा वारम्बार नमस्कार है और यह हमारे हृदयमे सदा विकासमान रहो।

सदुपदेश

यह ससारी आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल, पुद्गलको ही अपना स्वरूप मान, बहिरात्मा हो रहा है। जब काललब्धि तथा योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका संयोग पाकर इसे अपना तथा परका भेद-विज्ञान होकर सम्यक्त्व (आत्म-स्वभावका दृढ़ विश्वास) की प्राप्ति होती है, तब वह अतरात्मा होकर परपदार्थों से उपयोग हटाकर निजात्मस्वरूपमें स्थित होनेकी उत्कट इच्छारूप स्वरूपाचरण-चारित्रका आरम्भ तथा स्वात्मानुभवी हो जाता है। परचात् वारह व्रतरूप देशचारित्र अंगीकार कर एकदेश आरम्भ परिग्रहका त्यागी अणुव्रती होता है जिसके फलसे इसका उपयोग अपने स्वरूपमें किंचित् स्थिर होने लगता है। पुनः मुनिव्रत धार, अठ्ठाईस मूल-गुणरूप सकल-सयम पालनेसे सर्वथा आरम्भ-परिग्रहका त्यागी हो जाता है जिससे आत्माका उपयोग पूर्णरूपसे निज-स्वरूप ही में लीन होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतापूर्वक ध्यान-ध्याता-ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयके भेदरहित हो जाता है। यही स्वरूपाचरण चारित्रकी पूर्णता है आत्मा इसी अद्भुत रसायनके बलसे निर्वन्ध अवस्थाको प्राप्त होकर उस वचनातीत आत्मिक स्वाधीन सुखको प्राप्त करता है, जो इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तीको भी दुर्लभ है। क्योंकि इन इन्द्रादिकोका सुख लोकमें सर्वोपरि प्रसिद्ध होते हुए भी आकुलतामय, परिमित तथा पराधीन है और सिद्ध अवस्थाका सुख निराकुलित, स्वाधीन तथा अनन्तकाल स्थायी है। धन्य हैं वे महत् पुरुष ! जिन्होंने इस मनुष्य पर्यायको पाकर अनादि जन्म-मरण रोगका नाश कर सदाके लिये अजर-अमर अनन्त-आविनाशी आत्मिक लक्ष्मीको प्राप्त किया। ऐसे सम्पूर्ण जगत्के शिरोमणि सिद्ध परमेष्ठी जयवंत हो ! भक्तजनोंके हृदय-कमलमें निवास कर उन्हें पवित्र करे ! जगत्के जीवोंको कल्याण दाता हो !

हे मोक्षसुखके इच्छुक, ससार भ्रमणसे भयभीत सज्जन आताओ ! इस सुअवसरको हाथसे न खोओ, सासारिक राग-द्वेष रूप अग्निसे तप्तायमान इस आत्माको समता (शांति) रसरूपी अमृतसे सिंचन कर अजर-अमर बनाओ, यही सच्चा पुरुषार्थ, यही प्रयोजन, यही सर्वोत्कृष्ट इष्ट (हित) है।

संदर्भिका

- १ रत्नकरडश्रावकाचार—मूलकर्ता श्रीसमतभद्रस्वामी ।
भाषाटीकाकार प० सदासुखजी ।
- २ स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा—मूलकर्ता श्रीकार्तिकेय स्वामी ।
भाषाटीकाकार प० जयचन्द जी ।
- ३ भगवती आराधना—मूलकर्ता श्रीशिवार्य ।
भाषाटीकाकार प० जयचन्द जी ।
- ४ वसुनन्दि श्रावकाचार—आचार्य वसुनन्दी ।
- ५ धर्मपरीक्षा—अमितगत्याचार्य ।
- ६ त्रिवर्णाचार- सोमसेन भट्टारक सग्रहीत ।
- ७ चारित्रसार—मन्त्रिवर चामुण्डराय ।
- ८ अमितगति श्रावकाचार—अमितगत्याचार्य ।
- ९ सागारधर्मामृत—प० आशाधरजी ।
- १० गुरुपदेश श्रावकाचार—प० डालूराम जी ।
- ११ प्रदोत्तरश्रावकाचार—मूलकर्ता भट्टारक सकलकीर्ति ।
भाषाटीकाकार प० बुलाकीदास जी ।
- १२ पीयषवर्ष श्रावकाचार—ब्रह्मनेमिदत्त ।
- १३ पार्श्वनाथपुराण—प० भूधरदास जी ।
- १४ तत्त्वार्थबोध भाषापद्यानुवाद—प० बुधजनजी ।
- १५ क्रियाकोष—प० दौलतराम जी ।
- १६ क्रियाकोष—प० किशनसिंह जी ।
- १७ ज्ञानानन्द श्रावकाचार—ब्र० रायमल्ल जी ।
- १८ अष्टपाहुड—(सूत्रपाहुड-भावपाहुड)
मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ।
भाषाटीका प० जयचन्द जी ।

- १६ यशस्तिलकचम्पु—श्रीसोमदेवमुरि ।
- २० सुभाषितरत्नसन्दोह—श्री अमितगत्याचार्य ।
- २१ समाधितंत्र टीका—पं० पर्वतधर्मार्थी ।
- २२ सुदृष्टिरंगिणी—प० टेकचन्द जी ।
- २३ धर्मसार—मूलकर्त्ता भट्टारक सकलकीर्ति ।
भाषाटीकाकार पं० शिरोमणी जी ।
- २४ पुरुषार्थसिद्धयुपाय—श्री अमृतचन्द्राचार्य ।
भाषाटीकाकार प० टोडरमल जी ।
- २५ आदिपुराण—श्री जिनसेनाचार्य ।
भाषाटीकाकार प० दौलत राम जी ।
- २६ भद्रबाहुसंहिता—भट्टारक भद्रबाहु ।
- २७ धर्मसंग्रहश्रावकाचार—प० मेधावी ।
- २८ तत्त्वार्थसूत्र—(सर्वार्थसिद्धटीका)
भाषाटीकाकार प० जयचन्द जी ।
- २९ श्रीमूलाचार—श्रीवट्टकेर ।
भाषाटीकाकार प० पारसदासजी ।
- ३० सारचतुर्विंशंतिका—भट्टारक सकलकीर्ति ।
भाषाटीकाकार प० पारसदासजी ।

